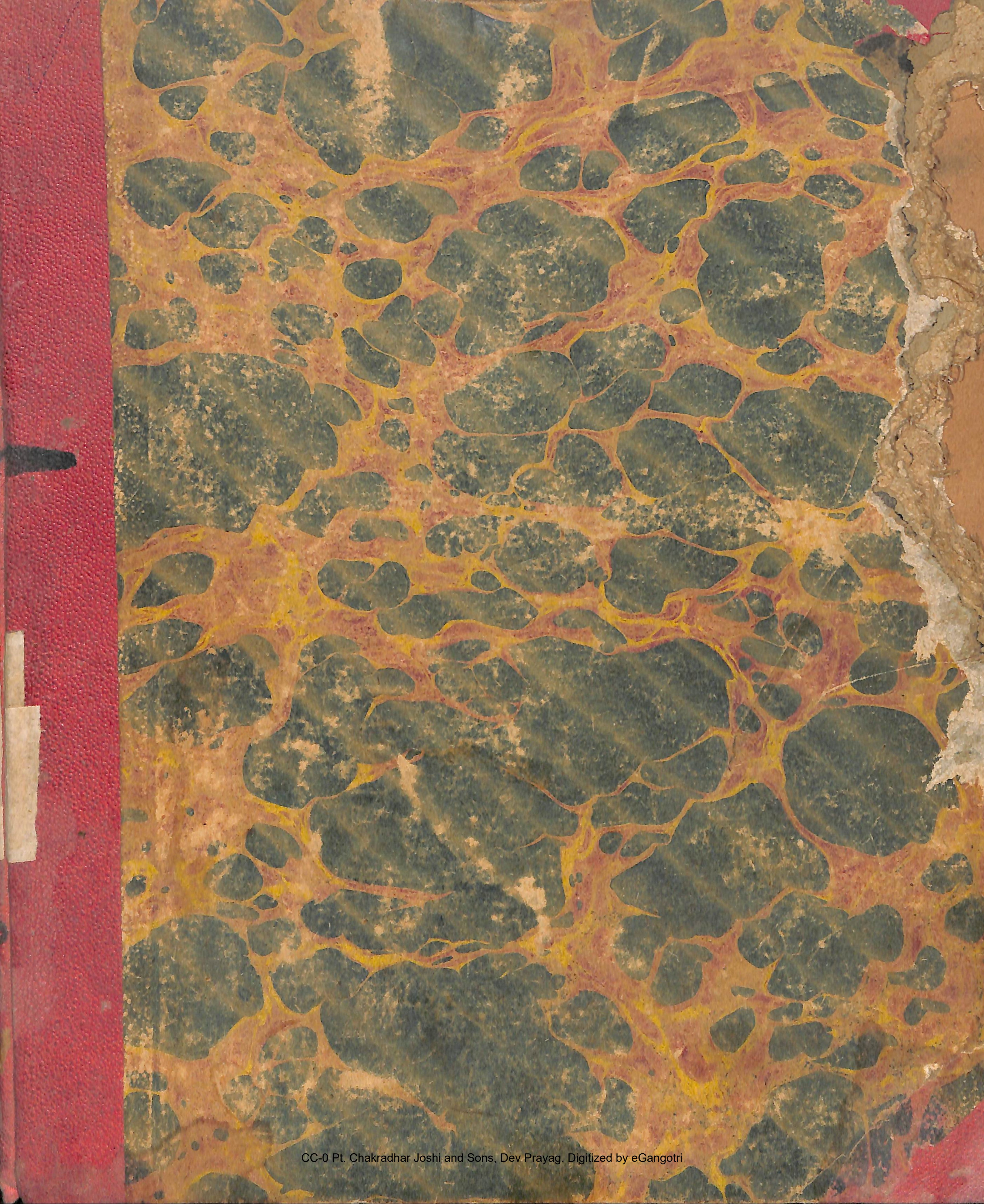


श्रीमद्भगवद्गीता।

कान्यकुब्ज श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित

मनभावनी भाषा टीका समेत

मूल भगवद्गीता।

"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥"

दोहा।

राधा राधा-रमण की कीरति कीरति याहि।
सो देखै मनभावनी तिलक तिलककरि ताहि॥

द्वितीयवार मुद्रित।

कलकत्ता।

निमतला घाट ष्ट्रीट ८ नम्बर के मकान मे

श्रीयुतबाबु भुवनचन्द्र वसाक के

संवाद-ज्ञानरत्नाकर यन्त्र मे छपी

सम्वत् १८३४।

श्रीमद्भगवद्गीता।

कान्यकुब्ज श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित

मनभावनी भाषा टीका समेत

मूल भगवद्गीता।

"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥"

दोहा।

राधा राधा-रमण की कीरति कीरति याहि।
जो देखै मनभावनी तिलक तिलककरि ताहि॥

द्वितीयवार मुद्रित।

कलकत्ता।

निमतला घाट ष्ट्रीट ८ नम्बर के मकान मे

श्रीयुतबाबु भुवनचन्द्र वसाक के

संवाद-ज्ञानरत्नाकर यन्त्र मे छपी।

सम्वत् १९३४।

विज्ञापन ।

इस असार संसार मे वेद शास्त्र पुराण इतिहास का सारांशरूप तथा मोह तम तिमिर तिरोहण के अर्थ प्रचण्ड मार्त्तण्ड और अज्ञान से अन्ध जनसमूह को ज्ञान अञ्जन का अञ्जनूटा यह अनूठा जो गीताशास्त्र सो समरभूमि मे बन्धुबध निमित्त व्याकुल अर्ज्जुन से श्रीकृष्ण भगवान ने कहा था सोई श्रीनारायण का अवतार श्रीवेदव्यास ने महाभारत मे भीष्मपर्व्व के बीच प्रकाश किया है और उस का तात्पर्य्य भी स्वामी श्रीशङ्कराचार्य्य ने भाष्य करि के कहा फेरि शङ्करभाष्य का भी टीका आनन्दगिरि जी ने किया और परम ज्ञानवान् श्रीधरस्वामी ने भी गीता पर सुबोधिनी नाम तिलक किया है परन्तु ये सब संस्कृत भाषा मे हैं इस से पण्डित छोड़ि और लोगों के समझ मे गीता का भावार्थ नहीं आवता है इस कारण से और कईएक सत्पुरुषों की रुचि औ कहने से पण्डित जगन्नाथ शुक्ल ने अपने बुद्धि बल के अनुसार मनभावनी नाम भाषा टीका सम्वत् १९२३ मे किया है सो उसी टीका के साथ श्रीमद्भगवद्गीता अङ्गन्यास करन्यास औ माहात्म्य के समेत श्रीभुवनचन्द्र वसाक ने अपने ज्ञानरत्न यन्त्र मे अपनी तरफ से छापा और श्रीजगन्नाथ पण्डित ने उसे फेर भी शुद्ध किया है ।

श्रीमद्भगवद्गीत

शाङ्करभाष्यं उपक्रमणिका।

ओं नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम्। अण्डस्यान्तस्त्विमेलोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी॥१॥ स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकिर्षुर्मरीच्यादीनग्रेसृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तं ततोऽन्यांश्च सनकसनन्दनादीनुत्पाद्य

भाषा अनुवाद

इस संसारमें यह सब किसीके इच्छा रहती है कि दुख दूरहोय और निरन्तर सुख मिलै परन्तु उसकी कोई उपाय बिनाजाने बहुतेरे लोग अनेक अनेक यतन करि वेद पुराण निहारि हारिबैठे और अपने मनके मनोरथको न पहुंचे तब परम दयालु भगवान वासुदेव श्रीकृष्णजीने उसकी एक अति उत्तम उपायरूप गीताशास्त्र महाभारतके बीच अर्जुनको उपदेश किया जिसमे ज्ञान निष्ठा और ज्ञाननिष्ठाका कारणरूप जो कर्म्मनिष्ठा अर्थात् कर्म्मके द्वारा ज्ञानको प्राप्ति होती है यही दोनो निष्ठा मे प्रवृत्त कहे कहता हुआ जो गीताशास्त्र तिसका तात्पर्य्य कहनेके लिये भगवान भाष्यकार शङ्कराचार्य्य सकल इतिहास पुराणोंके साथ गीताकी एकवाक्यता अर्थात् किसीसे विरोध नहीं है यह जानाते हुये ग्रन्थके प्रारम्भमे अन्तर्यामी परमेश्वर का प्रतिपादक कहे कहनेवाला एक पुराणका श्लोक मङ्गलाचरण किया है॥ उसका अर्थ यह है कि जो अव्यक्तनाम माया जगत्की प्रकृति तिससे प्रगट सकल स्थावर जङ्गमकी शरीर समूहमे अधिष्ठितरूहे टिके जो सकल जीव तिनके आश्रयभूत अन्तर्यामी नारायण हैं और उसी मायासे अंडाकार यह ब्रह्मांड प्रगट भया है कि जिसब्रह्माण्डके भीतर सकल

निवृत्तिधर्म्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधोहि वेदोक्तोधर्म्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। तत्रैकोजगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यः स धर्म्मः ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिः श्रेयार्थिभिरनुष्ठीयमानोदीर्घेण कालेन अनुष्ठातॄणां कामोद्भवाद्धीहमानविवेकावज्ञानहेतुकेनाधर्म्मेणाभिभूयमाने धर्म्मे प्रवर्द्धमाने चाधर्म्मे जगतःस्थितिं परिपालयिषुः स आदिकर्त्तानारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्यरक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवादंशेन कृष्णः किल सम्बभूव ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिकोधर्म्मः तदधीनत्वाद्वर्णाश्रमभेदानाम्। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्य्यशक्तिबलवीर्य्यतेजोभिःसदासम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययोभूतानामीश्वरोनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोपिसन् स्वमायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते स्वप्रयोजनाभावेपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्म्मद्वयमर्जुनायशोकमोहमहोदधौ निमग्नायोपदिदेश गुणाधिकैर्हि गृहीतोऽनुष्ठीयमानश्च

भाषा अनुवाद

लोक और समुद्र समेत यह सातद्वीप वसुन्धरा जो पृथिवी सोभई है ॥ १ ॥

सोई नारायण जगतको सिर्जन करि इस सृष्टिके पालनकरनेके लिये मरीचि अत्रि आदि दश प्रजापतियोंको पहले उत्पन्न किया और उनकों वेदविहित प्रवृत्ति लक्षण धर्मकी शिक्षा दिया फेर सनकादिकों को उपजाय उनको ज्ञान वैराग्य निवृत्ति लक्षण धर्मका उपदेश किया। सो वैदिक कहे वेदविहित धर्म दो प्रकारका है पहला जगतकी स्थिति करनेवाला जिसको प्रवृत्ति लक्षण कहते हैं दूसरा मुक्तिका देनहार निवृत्ति लक्षण है जिसको ब्राह्मण आदि चारो वरण औ चारो आश्रमी अपने कल्याणके अर्थ अनुष्ठान अर्थात् धारण करते हैं ॥

जगतमें लोगोंको कामनावशते विवेकज्ञानके नाशक अधर्मकी वृद्धि भई तो जगतकी स्थिति कहे पालनकी इच्छा करिके वही आदि कर्त्ता नारायण ब्राह्मण औ ब्राह्मणके आधीन वेदविहित धर्मकी रक्षाके निमित्त देवकीके गर्भमें वसुदेवसे अंशरूप आप प्रगट भये। सोई भगवान सदा ज्ञान ऐश्वर्य्यशक्ति बल वीर्य्य तेजसे सम्पन्न कहे युक्त अपनी वैष्णवी त्रिगुणमयी मायाको अपने वश करके और आप मुक्तरूप मायाके द्वारा उत्पन्न भये ऐसे देखपडेथे पर अपने किसी प्रयोजनके बिना भी लोगों

धर्मः प्रक्षयं गमिष्यतीति। तंधर्मं भगवतायथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्व्वज्ञोभगवान् गीताख्यैःसप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध। तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्व्विज्ञेयार्थं तदर्थाविष्करणायानेकैर्विवृतपदपदार्थवाक्यार्थन्यायमत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैर्गृह्यमाणमुपलभ्याहं विवेकतोर्थनिर्द्धारणार्थं संक्षेपतोविवरणं करिष्यामि। तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमलक्षणं तच्च सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठारूपाद्धर्माद्भवति तथेममेव गीतार्थधर्म्ममुद्दिश्य भगवतैवोक्तं सहिधर्म्मःसुपर्य्याप्तोब्रह्मणः पदवेदनम् इत्यनुगीतासु किञ्चान्यदपि तत्रैवोक्तं नैवधर्मी नचाधर्मी नचैव हि शुभाशुभी। यःस्यादेकासने लीनस्तुष्णीं किञ्चिदचिन्तयन्। ज्ञानं सन्न्यासलक्षणमितिच। इहापि चान्ते उक्तमर्जुनाय सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति। अभ्युदयार्थोपि यः प्रवृत्तिलक्षणोधर्मोवर्णाश्रमांश्चोद्दिश्य विहितः सच देवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपि सन् ईश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानसत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्ज्जितः शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञान-

भाषा अनुवाद

पर अनुग्रह प्रकाश करिके प्रगटे जिसमे इस धर्म्मको सबलोग जानिकरि ग्रहण करें क्योंकि बड़ोंके आचरण किये हुये धर्म्मको सबलोग ग्रहण करेंगे यह विचारि श्रीकृष्णजी ने संग्राम के बीच शोकसागरमे निमग्न कहे डूबे हुये अर्जुनसे वेदोक्त प्रवृत्ति निवृत्ति दोनो प्रकारके धर्मका उपदेश किया था सोई भगवत्का कहाहुआ उपदेश सात सै श्लोकमे सर्व्वज्ञ भगवान् वेदव्यासजीने यह गीता निबन्ध किया अर्थात् बनाया सकल वेदोंके अर्थका सारसंग्रह स्वरूप इस गीता का तात्पर्य्यार्थ लोगों को अतिदुर्ज्ञेय कहे जानवेयोग नहीं है इसी हेतु से बहुतोंने यद्यपि इस गीता का अर्थ प्रकाशकिया पर तौभी साधारण लोग उसका उलटा भाव अर्थ ग्रहणकर लेते हैं यह जानिकै यथावत कहे ठीक ठीक अर्थ निर्धारण करनेके लिये हम संक्षेप से विवरण करनेमे प्रवृत्त भये हैं दुखरूप इस संसार से उपरतिरूप जो निर्व्वाण कहे मुक्ति सोई गीताशास्त्रका प्रयोजन है परन्तु सर्व्वकर्म्म परित्याग पूर्व्वक ज्ञाननिष्ठारूप निवृत्ति धर्मके अनुष्ठान करने से वह प्रयोजन सिद्ध होता है अनुगीता आदि ग्रन्थोंमे भगवान् आप यह सकल

निष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते तथाचेममर्थमभिसन्धाय वक्ष्यति ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि यतचित्ताजितेन्द्रियाः। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये इति। इमं द्विप्रकारं धर्म्मं निःश्रेयसप्रयोजनं परमार्थतत्वञ्चवासुदेवाख्यं परब्रह्माभिधेयभूतं विशेषतोऽभिव्यञ्जयन् विशिष्टप्रयो- जनसम्बन्धाभिधेयवद्गीताशास्त्रं यतस्तदर्थविज्ञानेन समस्तपुरुषार्थसिद्धिरतस्तद्विवरणे यत्नः क्रियते मया अत्र च धृतराष्ट्र उवाच धर्मक्षेत्र इत्यादि।

भाषा अनुवाद

अभिप्राय प्रमाणरूपसे प्रगट देखाया है और जो वर्ण आश्रमके विषय मे जगत का स्थिति साधन कहे सहायक कर्म्मनिष्ठारूप प्रवृत्तिलक्षण धर्म्म इसमे कहीं कहीं कहा है वह यद्यपि देवादिलोक प्राप्तिका हेतु है पर तौ भी ईश्वरार्पण बुद्धि से किया हुआ चित्तशुद्धि के साथ ज्ञाननिष्ठाकी योग्यताके द्वारा निर्व्वाण मुक्तिका सा- धन होता है यह बात इसी ग्रन्थमे पीछू कही जायगी इसी भांतिसे निर्वाणमुक्तिका कारणरूप दो प्रकारका धर्म और वासुदेव जो परब्रह्म परमारथ तत्त्व सोई विशेष रूप से प्रगट करते विशेष प्रयोजन अभिधेय औ सम्बन्धविशिष्ट इस गीताशास्त्रके अर्थ ज्ञानसे सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं इसलिये इसका तात्पर्य्य कहनेको मै यत्न करता हूं कि इस विषयमे धृतराष्ट्र ने कहा कि हे सञ्जय इत्यादि।

इति शाङ्करभाष्यम् उपक्रमणिका॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

प्रथम अध्यायः।

धृतराष्ट्र उवाच। धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १॥ सञ्जयउवाच। दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्य्योधनस्तदा।

भाषा अनुवाद

नेत्रहीन धृतराष्ट्र युद्ध मे सन्देह करते हुये प्रशंसा वाक्यसे धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र का विशेषण देकर आत्महितकारी सञ्जय से पूछा कि हे सञ्जय धर्मक्षेत्र धर्मभूमि जो कुरुक्षेत्र वहां मेरे पुत्त्र दुर्य्योधन आदिक और पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिरादि सब युद्ध की इच्छा करिके इकट्ठे हो क्या करते हैं इससे यह आया कि धृतराष्ट्र के पूर्वपुरुषों मे कोई कुरु नाम राजा थे, जिनका यह कुरुक्षेत्र धर्मस्थान है, यहां धर्मबुद्धि होय संग्राम छोड मेल करके राज्य का विभाग तो न कर देंयगे यह भीतरी अभिप्राय है और रणभूमि मे सैन्यदल देखि सशङ्कित कहे डरे से कौन हैं क्या धीरवीर भीष्मपितामह के साथ मेरी प्रवल सेना को देखि शत्रुवों को भय भई है या हिंसा की भय दोनो मानि संग्राम से निवृत्त हो जायङ्गे यह धृतराष्ट्र सञ्जय से पुछते हैं पाण्डवा यह सम्बोधन दे कर जनाया कि मेरे भाई पाण्डु रोगो थे और उन को मृग रूप धरि मैथुन करत हुये ऋषि ने शाप भी दिया था कि जब तुम स्त्रीसङ्ग करोगे तुर्त्त मर्जावगे तो फेर युधिष्ठिरादि मेरे भाई के पुत्त्र कैसे हो सकते हैं इस से ये जारज हैं और राज्य के लिये लडने को आये कुरुक्षेत्र मे यह इन का सोलह आना अन्याय है और मामका कहने से समझाया कि मेरे पुत्र जो कुरुक्षेत्र गये सो अपने वडों के स्थान पर गये कुछ अन्याय नहीं किया पर उन-का आवना पराई जगह अन्याय है॥ १॥ तब सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि

आचार्य्यमुपसङ्गम्यराजावचनमब्रवीत् ॥ २ ॥ पश्यैतांपाण्डुपुत्त्राणामाचार्य्यमहतींचमूं व्यूढांद्रुपदपुत्त्रेणतवशिष्येणधीमता ॥ ३ ॥ अत्रशूरामहेष्वासाभीमार्जुनसमायुधि ॥ युयुधानोविराटश्चद्रुपदश्चमहारथः ॥ ४ ॥ धृष्टकेतुश्चेकितानःकाशिराजश्चवीर्य्यवान् । पुरुजित्कुन्तिभोजश्चशैब्यश्चनरपुङ्गवः ॥ ५ ॥ युधामन्युश्चविक्रान्तउत्तमौजाश्च वीर्य्यवान् । सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व्वएव महारथाः ॥ ६ ॥ अस्माकन्तु विशि-

भाषा अनुवाद

राजा पाण्डुपुत्त्र युधिष्ठिरादिका सैन्यदल व्यूहाकार रचना रचित युद्धके लिये तयार खड़ा देखि आप के पुत्त्र राजा दुर्य्योधन द्रोणाचार्य्य के निकट जाय कर वक्ष्यमाण यह वात कही है इस से यह जानाया कि भय औ शंका तुमारे ही पुत्त्र को भई है कि घवड़ाय के गुरू के निकट दौड़ गये ॥ २ ॥ सोई दुर्य्योधन की सव वातें सञ्जय नव श्लोकसे कहते हैं कि हे आचार्य्य देखियेतो यह युधिष्ठिरका सैन्यदल जिस को आपका शिष्य द्रुपद का पुत्त्र वुद्धिमान धृष्टद्युम्न ने रचा है सो महात्मा आप के सामने वडे विस्तारमे युद्ध करने को तयार निडर खड़ा है इस से यह आया कि जिस मे द्रोणाचार्य्य क्रोध करैं ॥ ३ ॥ और इस सेना के वीच युद्ध करने मे भीम अर्ज्जुन के समान धनुर्धारी महावली और और कितने योद्धा हैं तिन के नाम दुर्य्योधन द्रोणाचार्य्य से कहते हैं कि युयुधान जो सात्यकी और राजा विराट महारथी द्रुपद राजा ॥ ४ ॥ और धृष्टकेतु चेकितान राजा औ वलवान काशीराज औ पुरुजितराजा कुन्तिभोज औ शैब्य ये सव राजा नरश्रेष्ठ औ वलवान हैं ॥ ५ ॥ पराक्रमी युधामन्यु नाम राजा और वलवान उत्तमौजा नाम एक राजा और सुभद्राके पुत्र अभिमन्यु औ द्रौपदीके गर्भसे युधिष्ठिरादि पांचजनेसे उत्पन्न प्रतिविन्ध्यादि पांचभाई ये सव महारथी वीर हैं महारथीका लक्षण जो अस्त्रशस्त्रमे निपुण हो दश हजार धनुर्धारी योद्धोंके साथ अकेला युद्ध कर सके उसी को महारथी कहते हैं और असंख्य योद्धोंके साथ युद्ध करने मे जो समर्थ उसे अतिरथी शास्त्र मे कहते हैं और एक योद्धा के साथ जो युद्ध करै सो रथी है उस से भी कम अर्द्धरथी कहावते हैं ॥ ६ ॥ जो प्रवल शत्रु सेनादल देखि डरे से वोलते हो तो मेल क्यों न करलो लडाई से क्या फल

ष्टायेतान्निबोधद्विजोत्तम। नायकाममसैन्यस्यसंज्ञार्थं तान्ब्रवीमिते ॥ ७ ॥ भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः। अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥ ८ ॥ अन्येचबहवःशूरामदर्थेत्यक्तजीविताः। नानाशस्त्रप्रहरणाःसर्वेयुद्धविशारदाः ॥ ९ ॥ अपर्य्याप्तंतदस्माकंबलंभीष्माभिरक्षितं। पर्य्याप्तन्त्विदमेतेषांबलंभीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥ अयनेषुचसर्वेषुयथाभागमवस्थिताः। भीष्ममेवाभिरक्षन्तुभवन्तःसर्वएवहि ॥ ११ ॥

भाषा अनुवाद

है ऐसा द्रोणाचार्य्य न कहैं इस शङ्का से दुर्य्योधन कहता है कि मेरे पक्ष मे जो नायक कहे सेनापति हैं वे सब आप से छिपे नहीं हैं तौभी उन के नाम आप को स्मरण कराने के लिये कहता हूं ॥ ७ ॥ सोई ये दो श्लोक से कहते हैं कि संग्रामविजयी आप औ भीष्मपितामह कर्ण कृपाचार्य्य अश्वत्थमा विकर्ण औ सोमदत्त का पुत्र भुरिश्रवा औ जयद्रथ ये सब वीर अपनी ओर हैं तो फेर डर किस बात का है यह आशय जानो ॥८॥ अब कहते हैं कि और भी धीर वीर शूर जो मेरे अर्थ प्राण परित्याग करने की निश्चय करि राखे हैं और नाना प्रकारके शस्त्र चलानेवाले तथा युद्धविद्यामे विशारद कहे अति निपुण वे सब लोग भी आप की कृपा से इधर तैयार हैं ॥ ९ ॥ इस के अनन्तर दुर्य्योधन ने जो कहा सोई धृतराष्ट्र से सञ्जय कहते हैं कि ऐसे ऐसे शूर वीरों से भरीपूरी और भीष्म पितामह से रक्षित हो के भी हमारी सेना अपर्य्याप्त कहे पाण्डव की सेना के साथ युद्ध करनेमे असमर्थ सो जानो जाती है और विपक्ष पाण्डवों का अपूर्ण दल आलसी भीमसेन से रक्षित पर्य्याप्त अर्थात् समर मे समर्थ सो देख पडै है। दूसरा अर्थ दुर्य्योधन अपने हृदयको निडरता प्रकाश करते हुये द्रोणाचार्य्यसे कहते हैं कि हमारा ग्यारह अक्षौहिणी सैन्य दल महात्मा बुद्धिमान भीष्मपितामह जिस को हरतरह से रक्षा करते हैं निःसन्देह शत्रुवों का पराभव करने का समर्थ है और इन विचारों की एकतो सात अक्षौहिणी मात्र थोडी सेना दूसरे चपलबुद्धि महा गवांर भीमसेन से परिपालित है कहा हमारा सामना क्या करेगा पराभव करना अर्थात् जितना तो बडी दूर है ॥ १० ॥ इस से अब तुम सब लोगों को यही करना उचित है कि शत्रु के सैन्यदल के भीतर प्रवेश करने का क्रम से

तस्यसंजनयन्हर्षं कुरुवृद्धःपितामहः। सिंहनादंविनद्योच्चैः शंखंदध्मौप्रतापवान् ॥१२॥
ततःशङ्खाश्चभेर्यश्चपणवानकगोमुखाः। सहसैवाभ्यहन्यन्तसशब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
ततःश्वेतैर्हयैर्युक्तेमहतिस्यन्दनेस्थितौ। माधवःपाण्डवश्चैवदिव्यौशङ्खौप्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशोदेवदत्तं धनञ्जयः। पौण्ड्रंदध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मावृकोदरः
॥ १५ ॥ अनन्तविजयंराजाकुन्तीपुत्त्रोयुधिष्ठिरः। नकुलःसहदेवश्चसुघोषमणि-
पुष्पकौ ॥१६॥ काश्यश्चपरमेष्वासःशिखण्डीचमहारथः। धृष्टद्युम्नोविराटश्चसात्य-

भाषा अनुवाद

अलग अलग हो अपनी अपनी रणभूमि पर खडे हो कर भीष्मजी को सब कोई रक्षा करो जिस से और कोई शत्रु की और का योधा पिछु से इनको न मारने सकै इस की अभिप्राय यह है कि भीष्महीं के वल से हमारा जीवन है ॥ ११ ॥
तव तो ऐसी ऐसी राजा दुर्योधन की सनमान और अपनपौ की वातैं सुनि भीष्मजी ने जो किया सो कहते हैं कि दुर्योधन के सन्तुष्ट होने के कारण कुरुवंश के वृद्ध पितामह उछल के आगे वढि सिंहनाद करि के शङ्ख को वडे धुधुकार शब्द से वजाया ॥ १२ ॥ भीष्म पितामह की युद्ध मे ऐसी उत्साह देखि सकल सेना के सरदार लोग जिस भांति युद्ध उत्सव मे प्रवृत्त भये सोई कहते हैं कि तदनन्तर शङ्ख भेरी कहे तूर ही पणव जो मृदङ्ग अनक जो नगारा गोमुख वाद्य विशेष तत्काल एक वारगी जो सभोंने वजाया तो वह शब्द एक वडा आश्चर्य्यभूत भयानक धूधूकार भया कि पृथिवी दहल उठी ॥ १३ ॥ तिस के वादि पाण्डवों की सेना मे युद्ध की तयारी पांच श्लोक से कहते हैं कि इधर तो हंस से श्वेत वरण चार हय संयुक्त सूर्य्य के समान प्रकाशमान रथ पर सवार श्रीकृष्ण औ अर्जुन ने भी अति उत्तम दोनो शङ्ख धूधूकारे कि तिन लोक हिल उठे ॥ १४ ॥ अव किसने कौन शङ्ख वजाया सो कहते हैं कि पाञ्चजन्य नामक शङ्ख श्रीभगवान ने और अर्जुन ने देवदत्त नाम शङ्ख वजाया फेर भीमकर्मा भीमसेन ने भयानक पौंड्र नामक महाशङ्ख वजाया ॥ १५ ॥ तिस के अनन्तर अनन्तविजय नाम शङ्ख कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने वजाया और सुघोष नाम शङ्ख नकुल ने औ मणिपुष्प नाम सहदेव ने वजाया ॥ १६ ॥ और धनुर्द्धारी काशीराज शिखण्डी औ धृष्टद्युम्न

किश्चापराजितः ॥१७॥ द्रुपदोद्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते। सौभद्रश्च महाबाहुः
शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ।१८॥ सघोषोधार्त्तराष्ट्राणां हृदयानिव्यदारयत्॥ नभश्च
पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥१९॥ अथव्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्यपाण्डवः। हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥२०॥
अर्जुनउवाच। सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापयमेच्युत ॥२१॥ यावदेतान्निरीक्षेहं योद्धु-
कामानवस्थितान्। कैर्मयासहयोद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥ योत्स्यमानानवेक्षेहं
यएतेऽत्र समागता। धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥ सञ्जय उवाच।

भाषा अनुवाद

तथा विराट राजा और युद्धमे अपराजित जो सात्यकी ॥ १७ ॥ और द्रुपद राजा तथा द्रौपदी के पांच पुत्र प्रतिविन्ध्यादि और सुभद्रा के पुत्र महाबाहु अभिमन्युजी हे पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्र ये सब के सब भिन्न भिन्न ध्वनि करने लगे ॥ १८ ॥ वही उन सबों की शङ्खध्वनिने तुमारे पुत्र दुर्योधन और उन से पक्षपातियों के हृदयों विदीर्ण कर दिया और वह ध्वनि प्रतिध्वनिरूप से आकाश औ पृथिवीतल मे व्याप्त हो छाय रही ॥ १९ ॥ उस समय मे अर्जुनने श्रीकृष्णजी को जो जानाया सो चार श्लोक से सञ्जय धृतराष्ट्र के निकट प्रगट करते हैं कि हे महाराज धृतराष्ट्र इस प्रकार की शङ्ख ध्वनि होने पर भी तुमारे पुत्र लोगों की उत्साह युद्ध मे देखि कर कपिध्वज अर्जुनने धनुष चढ़ाय उस काल भगवान से इह बात कही ॥ २० ॥ श्रीकृष्ण से अर्जुन इतनी ही बात कही कि हे अच्युत दोनो दल के बीच मेरे रथको खडा करो ॥ २१ ॥ जो कहो कि क्या तमासगीर हो कि खडे हो देखोगे तुम तो आप योद्धा लडनेवाले हो इस से सेना के मध्य रथ किस लिये खड़ा किया जायगा इस बात पर कहते हैं कि उतनी देर रथ खडा करो कि जबतक हम देखें कि युद्धकी कामना करि खडी भई सेना के बीच किस के साथ लडना हमे उचित है ॥ २२ ॥ दुर्बुद्धि दुर्योधन का मनोरथ सिद्ध करने के अर्थ जो राजा लोग इस युद्ध भूमि पर आय इकट्ठे भये हैं उनको जबतक हम देखें तबलों रथ दोनो सेना के मध्य मे स्थापन करो ॥२३॥ तिस के बाद क्या भया सो कहते हुये सञ्जय बोले कि हे महाराज धृतराष्ट्र अर्जुन की

एवमुक्तोहृषीकेशोगुडाकेशेनभारत। सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वारथोत्तमम्॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतःसर्व्वेषाञ्च महीक्षिताम्। उवाचपार्थपश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति
॥२५॥ तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थःपितॄनथ पितामहान्। आचार्य्यान् मातुलान् भ्रातॄन्
पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा। श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥ २६ ॥ तान
समीक्ष्यसकौन्तेयःसर्व्वान् बन्धूनवस्थितान्। कृपयापरयाविष्टोविषीदन्निदमब्रवीत्
॥२७॥ अर्ज्जुनउवाच। दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्णयुयुत्सून् समवस्थितान्। सीदन्ति
ममगात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति॥ २८ ॥ वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते॥२९॥ नच शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीवचमे

भाषा अनुवाद

यह प्रार्थना सुनिके श्रीकृष्ण दोनो सेनाके बीच मे उस उत्तम रथ को ले जाय कर खडा किया॥२४॥ फेरि भीष्म द्रोण औ और और राजावों के सामने रथ को खडा करिके श्रीभगवानने कहा कि युद्ध करनेके हेतु एकट्ठी हुयी यह कुरुवंशीयों की सेनाको देखो और जिनके साथ युद्ध अनुचित मानि तुमारा मन मलिन भया है इनके साथ युद्ध करना ही पडेगा क्योंकि संग्राम मे अस्त्रधारी राजों के सामने से हटना क्षत्री के योग्य काम नहीं है॥ २५॥ तहां खडे हुये चचा दादा आचार्य्य मामा भाई भतीजे पोते नाती औ मित्र बन्धु ससुर सुहृदों को दोनो तरफ अर्जुन ने देखा ॥ २६ ॥ तो सो कुन्तीपुत्त्र अर्ज्जुन उन सब बन्धवों को लड़ने के लिये संग्राम मे खडे देखि परम कृपा से युक्त अति कातर स्वभाव हो विषाद करते भये यह वचन बोले॥ २७॥ उस समय अर्ज्जुन ने जो जो कहा सो सञ्जय कहते हैं कि हे राजा तब अर्जुन कृष्ण से बोले कि हे श्रीकृष्ण युद्ध की इच्छा करि संग्राम भूमिमे खडेहुये इन स्वजन बन्धुवों को देखि मेरे हाथ पांव ढीले होगये और सारी शरीरमे पसीना पसीना हो आया मुख भी सूखता जाता है॥ २८ ॥ और देह कांपती है रोंवां खडे हो हो उठते हाथसे गांडीव धन्वा भी गिरापडता है सर्वांगकी खाल जली सी जाती है॥२९॥ और मेरे अब खडे होनेकी सामर्थ्य भी नहीं रही मेरा मन भ्रमता है और निमित्त अनगुन भी उलटे पुलटे देखता हूं बाईं आंख और हाथ भी फरकते हैं॥ ३० ॥ इससे मै अपना अब कल्यान नहीं देखता हूं

मनः। निमित्तानिचपश्यामिविपरीतानिकेशव॥ ३०॥ नचश्रेयोनुपश्यामिहत्वा स्वजनमाहवे। नकांक्षेविजयंकृष्ण नचराज्यं सुखानि च॥ ३१॥ किंनोराज्येन गोविन्दकिंभोगैर्जीवितेनवा। येषामर्थेकांक्षितंनोराज्यं भोगाः सुखानि च॥ ३२॥ तइमेऽवस्थितायुद्धे प्राणांस्त्यक्त्वाधनानिच। आचार्य्याःपितरःपुत्रास्तथैवचपितामहाः ॥ ३३॥ मातुलाःश्वशुराः पौत्राःश्यालाःसम्बन्धिनस्तथा। एतान्नहन्तुमिच्छामि घ्नतोपिमधुसूदन ॥३४॥ अपित्रैलोक्यराज्यस्यहेतोःकिन्तु महीकृते। निहत्यधार्त्त- राष्ट्रान्नःकाप्रीतिस्याज्जनार्दन॥ ३५॥ पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः। तस्मान्नार्हावयंहन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् सबान्धवान्। स्वजनं हि कथं हत्वासुखिनः स्याम·

भाषा अनुवाद

कि स्वजन बन्धुवों को संग्राम मे मारके हे कृष्ण नहीं चाहिये हमै विजय और न राज्य और सुख की भी इच्छा हमै नहीं है॥ ३१॥ देखो क्या करना हमै राज्य लेकर हे गोविन्द और भोग से भी मुझे क्या काम है और जीने से भी हमै क्या प्रयोजन है कि जिनके वास्ते हम राज्य भोग और सुख की आकांक्षा करते हैं वेई पाण्डव प्राणधन छोड़ के मेरे सामने संग्राम मे खडे हैं और आचार्य्य पितृ पितामह पुत्र पौत्र येई सकल देख पडे हैं॥ ३२॥ ३३॥ जो कहो कि कृपा करिके चाहो तुम इन्हे छोडो पर ये सब संग्राम में अब तुमको मारेहींगे बिनमारे किसी तरह न छोडेंगे इससे तुम इन सबको संहार करिके राज्य भोग क्यों न करो तो हे मधुसूदन ये लोग चाहें हमैं मारैं परन्तु मारते हुये भी मामा नाती पोते भतोजे ससुरे सम्बन्धी इनको हम मारने की इच्छा नहीं करते हैं॥ ३४॥ जिन को हम तीन लोक की राज्य सम्पदाके वास्ते भी मारने की इच्छा नहीं रखते तो हे जनार्दन केवल पृथिवी भर की राज्य के हेतु दुर्य्योधन आदि को नाश करि के हमारी क्या प्रीति अर्थात् कौन वडा कार्य्य सिद्ध होगा तात्पर्य्य यह कि कुटुम्बको नाश करि हमको संसारका कोई सुख नहीं है॥३५॥ जो कहो कि घरमे आग लगावे या विष पिलाय मारे अथवा वध करने को खड्ग उठावे और धन हरन करे या भूमि छिनले और स्त्रीहरिले ये छवो आततायी कहावते हैं इनके मारने मे दोष नहीं है ऐसा शास्त्र अर्थात् नीतिमे लिखा है

माधव ॥ ३६ ॥ यद्यप्येतेनपश्यन्तिलोभोपहतचेतसः। कुलक्षयकृतंदोषंमित्रद्रोहेच
पातकम् ॥ ३७ ॥ कथंनज्ञेयमस्माभिःपापादस्मान्निवर्त्तितुम्। कुलक्षयकृतंदोषं
प्रपश्यद्भिर्ज्जनार्दन ॥ ३८ ॥ कुलक्षयेप्रणश्यन्तिकुलधर्म्माःसनातनाः। धर्म्मे
नष्टेकुलंकृत्स्नमधर्म्मोभिभवत्युत ॥ ॥ ३९ ॥ अधर्म्माभिभवात्कृष्णप्रदुष्यन्तिकुलस्त्रियः।
स्त्रीषुदुष्टासुवार्ष्णेयजायतेवर्णसङ्करः ॥ ४० ॥ सङ्करोनरकायैवकुलघ्नानांकुलस्य

भाषा अनुवाद

इस बात पर अर्ज्जुन उत्तर देते हैं कि यह आपकी अभिप्राय केवल नीति युक्त है पर धर्म्मशास्त्रकी अपेक्षा यह नीतिपक्ष दुर्बल है क्योंकि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि नीति औ धर्म्मका जहां विरोध हो तहां स्मृति मूलक युक्ति बलवती होती है और अर्थ शास्त्र से धर्म्म शास्त्र प्रबल है इस से आततायि स्वरूप आचार्य्य आदिक को नाश करने से हमको अवश्य महापापरूप पातक लागैगा और इन लोगों का बध अयोग्य औ अधर्म्म तथा लोक परलोक मे अयश औ दुखका मूल है तो कहो हे माधव हम अपने स्वजन बन्धुओं को विनाश करि के कैसे सुखी होंयगे इससे बन्धु समेत धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने की मेरी सामर्थ्य नही है जो चाहे सो हो ॥ ३६ ॥ जो कहो कि यह बात तो दोनो ओर समान हैं परन्तु वे लोग इस को न मानिके जैसे युद्ध करने को तयार हो खडे हैं तैसे तुम भी संग्राम इन के साथ करो इस बात मे शोचन और खेद करने का क्या प्रयोजन है इस आशय पर कहते हैं कि यद्यपि राज्य लोभ से विचार रहित दुर्य्योधन आदि ये सब कुलक्षय कृतदोष औ मित्रद्रोह से जो पातक अशुभरूप तिसे नहीं देखते और नहीं गिनते हैं। ३७ ॥ पर तौ भी हे जनार्दन हमलोग कुलक्षय कृत दोष जानि बूझके भी इस महापाप से क्यों न शान्त होय अपने को बचावें अर्थात् हम को युद्ध से निवृत्त होना ही उचित हैं ॥ ३८ ॥ सोई कुलक्षय कृत दोष कहते हैं कि कुल की क्षय करनेसे सनातन जो कुलधर्म्म सो नष्ट होजाता हैं और धर्म्मकी हानि होनेसे वाको जो कुल उसको अधर्म्म आयके ग्रसि लेता हैं ॥ ३९ ॥ और अधर्म्मके जोरसे कुल कामिनी सब भ्रष्ट आचारनी हो जाती हैं और स्त्रियों के दुष्ट आचरण करने से वरणसङ्कर पैदा होते हैं ॥ ४० ॥ तो फेरि वरणसङ्कर पैदा होय कुलघातियों

च। पतन्तिपितरोह्येषांलुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४१ ॥ दोषैरेतैःकुलघ्नानांवर्ण-सङ्करकारकैः। उत्साद्यन्तेजातिधर्माःकुलधर्माश्चशाश्वताः ॥ ४२ ॥ उत्सन्नकुल-धर्माणांमनुष्याणांजनार्द्दन। नरकेनियतंवासोभवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४३ ॥ अहो बतमहत्पापंकर्त्तुंव्यवसितावयम्। यद्राज्यसुखलोभेनहन्तुंस्वजनमुद्यताः ॥ ४४ ॥ यदिमामप्रतीकारमशस्त्रंशस्त्रपाणयः। धार्त्तराष्ट्रारणेहन्युस्तन्मेक्षेमतरंभवेत् ॥४५॥ सञ्जय उवाच। एवमुक्त्वार्जुनःसंख्येरथोपस्थउपाविशत्। विसृज्यसशरंचापंशोक संविग्नमानसः ॥४६॥ इति सैन्यदर्शनोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

भाषा अनुवाद

के कुलको नरकका हेतु होते अर्थात् नरकमे डालते हैं और उनसे कुल नासकों के पितर पिण्डापानी से रहित हो के नरक मे पड़ते हैं हाय यह कितना वडा कष्ट है ॥४१॥ कुलघातियोंके वरणसङ्कर करनेवाले इन दोषों से सनातन जातिधर्म औ कुलधर्म्म आश्रमधर्म्म सव उच्छिन्न हो जाते हैं इससे कुलनाशकारी इस युद्धसे निवृत्त होना ही परम कल्याण है ॥ ४२ ॥ और हे जनार्दन जिन मनुष्यों के कुलधर्म्म औ जातिधर्म उच्छिन्न हो गये उनको निरन्तर घोर नरकमे वास होती है यह मैने पुराण इतिहास और धर्म्मशास्त्र आदि ग्रन्थों मे सुना है ॥४३॥ देखो गुण दोष के विशेष ज्ञानवान होके भी जो हम राजसुख के लोभ से स्वजन बन्धु लोगोंको संग्राममे मारनेको तयार हो गये कि ऐसे महापापकर्म्म करनेका उद्योग किया हाय हाय यह वडा कष्ट और विषाद मेरी भूलसे भया कहो बन्धु वधसे महा पाप छोड और क्या हाथ लगना है॥ ४४ ॥ और जो कहो कि युद्ध से विमुख निहत्थे वेहथियार तुम को संग्राम मे ये धृतराष्ट्रके पुत्र सिकार सा पीट लेयङ्गे तो वह उनका मारना और मेरा मरना मेरे वास्ते परम कल्याणकर होगा कि जिस मे पापका संचय भो नहीं है ॥४५॥ अर्जुनका यह वृत्तान्त सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहते भये कि हे राजन् धृतराष्ट्र फेर तो अर्जुन श्रीभगवान से ऐसो ऐसी बातें कहि करके और शोक सन्ताप से व्याकुल तथा पीडित मन महा उदास जय की आशसे निराश हो हाथसे धन्वा वानको भी त्यागकरि रथके उपर मनसारि जीहारि ढीले होय वैठगये ॥४६॥ इति जगन्नाथ शुक्ल विरचित भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

द्वितीय अध्यायः।

सञ्जय उवाच। तन्तथाकृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्। विषीदन्तमिदंवाक्य-
मुवाचमधुसूदनः॥ १॥ श्रीभगवानुवाच। कुतस्त्वाकश्मलमिदंविषमेसमुपस्थि-
तम्। अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्ज्जुन॥ २॥ माक्लैव्यंगच्छकौन्तेयनैतत्
त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रंहृदयदौर्बल्यंत्यक्त्वोत्तिष्ठपरन्तप॥ ३॥ अर्जुन उवाच।

भाषा अनुवाद

अहिंसा परम धर्म है इस से भिक्षाकरि निर्वाह करना हीं हमै उचित है ऐसी ये सब अर्ज्जुन की बातैं सञ्जय के सुख से सुनि और युद्ध से विमुख अर्जुनको जानि अपने पुत्र का अचल राज्य मानि मन प्रसन्न स्वस्थ हृदय धृतराष्ट्र को देखि फेरि सञ्जय धृतराष्ट्र की उस दुष्ट आशा को दूर करते हुये यह वचन बोले कि हे राजन इस प्रकार कृपायुक्त अश्रुधारा पूर्ण लोचन विषाद करते हुये अर्जुन से दुखमोचन श्रीभगवान ब्रह्मविद्या जो ज्ञान तिससे प्रबोध करते हुये यह वचन कहते भये सो सुनो॥ १॥ अर्जुनको कातर देखि यह वचन श्रीकृष्ण बोले कि हे अर्जुन ऐसे असमय मे लडाई के बीच मूरख कायर कूरकपूत शास्त्र विहीन मनुष्यों के योग्य जो लोक मे दुर्यश करनेवाला है औ अस्वर्ग्य कहे जिससे स्वर्ग जाय और नरक मिलै ऐसा कश्मल अर्थात् मोह अर्जुन इस नामसे भूतलमे प्रसिद्ध धीरवीर तुम ऐसे पुरुष को आय कर प्राप्त भया यह बडाही आचरज है॥ २॥ फेर भी भगवान अर्जुन से कहते हैं कि हे परन्तप शत्रु संहार करनेवाले अर्जुन हे कौन्तेय कुन्तीपुत्र अब तुम वीरभावको छोड इस क्लीव कहे नपुंसकके भावको न

कथंभीष्ममहंसंख्येद्रोणञ्चमधुसूदन। इषुभिःप्रतियोत्स्यामिपूजार्हावरिसूदन॥
४॥ गुरूनहत्वाहिमहानुभावान्श्रेयोभोक्तुं भैक्ष्यमपीहलोके। हत्वार्थकामांस्तु
गुरूनिहैवभुञ्जीयभोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥ नचैतद्विद्मःकतरन्नोगरीयोयद्वा

भाषा अनुवाद

गहौ यह तुमारे योग्य नहीं है इस आचरण के करने मे तुमारी शोभा जगत मे कुछ नहीं होगी इससे इस क्षुद्र कहे तुच्छ हृदय को दुर्बलता कहे कादरपन को छोडकर हमारे कहने से उठो और धीरज धरि समै के अनुसार काय्य करो कुन्तीपुत्र सम्बोधन देने से जनाया कि मातृस्वभाव कन्या को होता है पुत्रको तो पितृस्वभावही उचित है और परन्तप कहने से सोचाया कि उठ कर शत्रुओं को मारलो तुम अनेक वार संग्राममे जय पाय चुके हो क्यों घवड़ाते हो॥३॥ इस प्रकार भगवतसे प्रवोध कराये भी गये अर्जुन तौ भी शोकग्रस्त महा व्याकुल अपने मन का मनोरथ प्रकाश करते हुये कृष्ण भगवान से फेरि कहने लगे कि हे मधुसूदन पूजा करनेके योग्य जो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य्य तिन से संग्राम मे हम वाणोंसे कैसे युद्ध करैं औ उनको मारैं कि जिनके साथ हम वचनसे भी संग्रामकरने को वात नहीं कर सकते हैं तो हे अरिसूदन कहे शत्रुनाशन साक्षात् युद्ध कैसे करैं यहां शत्रुनाशन कहनेसे अभिप्राय यह कि यत्न कहे उपायसे शत्रु नाश करने वाले हो॥४॥ फेर भी अर्ज्जुन कहते हैं कि यद्यपि युद्ध करना राजों का धर्म्म है तौ भी लोभसे जीविका ही के अर्थ वे लोग युद्ध मे अनर्थरूप पाप करते हैं और जो कहो कि इन लोगों को विना मारे तुमारी देहयात्रा कहे जीवनवृत्ति भोजन वस्त्र भी न चलेगा तो निर्व्वाह कहो संसार मे कैसे होगा इस वात पर अर्जुन कहते हैं कि जिस लिये महानुभाव महात्मा गुरू लोगों को न मार के भीषमांग खाना भी मेरे जान लोक परलोक मे श्रेय कहे अति उत्तम कल्याणरूप है और नहीं गुरू आदि वडे लोगों को मारिके उनके लोहूसे लपटे भये भोग हम चाहते हैं क्यों कि जो आप यह कहो कि परलोक मे जो होगा सो होगा किसने देखा है अब जो उपस्थित है सो करो तो कहते हैं कि केवल परलोक ही मे दुख नहीं है यहां भी दुर्यश औ सन्तापरूप दुख होता ही है और जो कहो कि रहैं

जयेमयदिवानोजयेयुः । यानेवहत्वानजिजीविषामस्तेवस्थिताःप्रमुखेधार्त्तराष्ट्राः ॥
६ ॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावःपृच्छामित्वांधर्म्मसंमूढचेताः । यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं
ब्रूहितन्मेशिष्यस्तेहंशाधिमांत्वांप्रपन्नम् ॥ ७ ॥ नहिप्रपश्यामिममापनुद्याद्यच्छोक
मुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् । अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धंराज्यंसुराणामपिचाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

भाषा अनुवाद

परलोक यहां लोकमें तो सुख मिलेगा तो हे श्रीकृष्ण तुच्छ अल्प सुख के हेतु मुक्ति
और स्वर्गलोक मे यश ऐसी बडो वस्तु कौन मूर्ख छोडेगा ॥५॥ और जो कदाचित
हम अधर्म अङ्गीकार करैं तौभी तो हमारी जय या पराजय क्या होयगी यह भी
तो हम नहीं जानते हैं कि दोनो मे क्या होगा सोई कहते हैं कि होय हमी
रणमें उनको जय करलें नतुवा वेई सवहमे जीतें परन्तु हमारी जीत होने से भी
विचार कर देखो कि वह हमारी हारही है क्यों कि जिनको नाश करिके हम
फेरि और संसार मे प्राण धारण करना नहीं चाहते हैं सेई धृतराष्ट्रके पुत्र सव
इकट्ठे हुये रणभूमिमे हमारे सामने युद्धके अर्थ खडे हैं ॥६॥ इन कुटुम्बके लोगों
का वध करिके हम अपने प्राण कैसे करि रखैंगे इस चिन्ता को कार्पण्य कहते
और दोष जो कुलक्षय कृत पाप है यही दोनो वातोंसे हमारी शूरता नष्ट होगई
अर्थात् चली गई इस से अव धर्मके विचार मे भी हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई हैं कि
संग्राम छोड़ भिक्षान्नसे भोजन करना क्षत्रिय को उचित कि अनुचितहै इस सन्देह
से व्याकुल होय हम अव आपही से पूछते हैं कि जिस मे हमारा अत्यन्त परम
कल्याण होय सो आप कृपा करिके हमसे कहो क्यों कि हम आपके शिष्य औ शर-
णागत हैं हमैं अव और कछु नहीं सूझै है शरणागतपर दया करना आप ऐसे
महात्मों को उचित है ॥७॥ जो कहो कि तुमहीं आप अपने मनसे विचार करके जो
करने योग्य होय सो करो न क्यों तिसपर कहते हैं कि इन्द्रियों की चैतन्य शक्तिका
नाश करनेवाला जो यह शोक हमैं आयके प्राप्त भया हैं सो किसी भी उपायसे दूर
होगा यह हम किसीभी भांतिसे नहीं देखते हैं और यद्यपि हम निष्कण्टक पृथिवी
भरका राज्य करैं या देवाधिपत्य कहे स्वर्ग का राज्य इन्द्रपद भी प्राप्त करैं अर्थात्
पावें तौभी इस शोकसागरके पार जानेकी कोई उपाय हम नहीं देखते हैं॥८॥ इस

सञ्जय उवाच। एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः। नयोत्स्यइति गोविन्द
मुक्त्वातूष्णीं बभूवह॥९॥ तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत। सेनयोरुभयोर्मध्ये
विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥ श्रीभगवानुवाच। अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च

भाषा अनुवाद

प्रकारकी बातें भगवानसे कहके अर्ज्जुनने फेर क्या किया सो सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि निद्राविजयी शत्रुनाशन धनञ्जय अर्जुनने भगवानसे कहा कि हे गोविन्द हम युद्ध न करेगे जो होय सो होय यह कहि कर रथके उपर मौन होय बैठ रहे॥९॥ तिसके अनन्तर क्या भया सो सञ्जय कहते हैं कि दोनो सेना के बीच मे विषाद को प्राप्त भये अर्ज्जुन को सम्बोधन करि भगवान हंसते हुये वक्ष्यमाण ये वचन कहने लगे हे भारत धृतराष्ट्र सुनो॥१०॥ यह ग्रन्थ प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक से ले कर और द्वितीय अध्याय के दशवें श्लोक तक जो तीन वाक्य हैं तिन के मध्य मे प्रथम अध्याय के दूसरे श्लोक से लेके द्वितीय अध्याय के नवयें श्लोक पर्य्यन्त को वाक्य व्याख्या करने के योग्य है क्यों कि उस मे प्राणियों के सांसारिक दुख का कारणभूत जो शोक मोहादि रूप दोष तिसकी उत्पत्तिका हेतु रूप अहङ्कार की कारणस्वरूप अविद्या वर्णन की गई है और राज्य आदि ममता रूप भ्रान्ति ज्ञान निमित्तक स्नेह देखाया और उस के वियोग से उत्पन्न स्नेह मोह भी देखाया हैं अर्जुन अपना क्षत्रिय का जो धर्म्म युद्ध करना तिससे आपही प्रवृत्त होके जो जिस शोक मोह के द्वारा विवेकज्ञानसे रहित हो कर युद्धसे विरक्त और परधर्म्म भिक्षा मे प्रवृत्त भये थे ठीक है शोक मोहयुक्त प्राणी मात्र बहुधा स्वधर्म्म छोड परधर्म्म अङ्गीकार कर लेते हैं और जो स्वधर्म्म मे प्रवृत्त है वे भी फल की कामना से अहङ्कार पूर्वक प्रवृत्त होते हैं। इस कारण धर्म्म अधर्म्म की प्रबलताके हेतुसे उत्तम अधम जोनियों मे जन्म और सुख दुःख आदि प्राप्ति रूप यह संसार किसी प्रकार छूटता नहीं इस से शोक मोह ये दोनो संसार होने के कारण हैं केवल संन्यास पूर्वक आत्मज्ञान निष्ठाके विना शोक मोह के निवारणकी और कोई उपाय न देखि भगवान वासुदेव लोक के उपर अनुग्रह करते हुये अर्ज्जुनको उपलक्षण करि इस गीताशास्त्र मे सोई ज्ञाननिष्ठा का उपदेश करते हैं। इस विषय मे कोई कहते

भाषा अनुवाद

हैं कि सर्व कर्म परित्याग करिके केवल आत्मज्ञानसे मुक्ति नहीं होती हैं परन्तु श्रुति स्मृति विहित कर्मनिष्ठाके सहित जो तत्त्वज्ञाननिष्ठा है उस से कैवल्यमुक्ति प्राप्ति होती हैं इस मे प्रमाण इसी गीता के दूसरे अध्याय मे ३३।४७ आदि श्लोकों से कहा है और युद्ध आदि कर्म भी क्षत्री को अधर्म्म नहीं हैं बलु उस के न करने से दोष है यह भी इसी द्वितीय अध्याय के ३३ श्लोक मे निश्चय करि के कहा है। तो उपर की उक्त अभिप्राय अत्यन्त असत् है कि जिस हेतु ज्ञाननिष्ठा औ कर्म्म निष्ठा दोनो पृथक् पृथक् कहा है अर्थात् इसी द्वितीय अध्याय के ११ श्लोक से लेकर ३१ श्लोक तक जो परमार्थ तत्त्व निरूपण किया गया है तद्विषयक बुद्धि का नाम सांख्य बुद्धि और सोई बुद्धि युक्त ज्ञानी भी सांख्य कहावते हैं और इस सांख्य बुद्धि उत्पन्न होनेके पूर्व देहादि व्यतिरिक्त कहे भिन्न जो आत्मा उस को कर्तृत्व आदि की अपेक्षा करि के धर्म्म अधर्म्म विचार पूर्व्वक जो मोक्ष का साधन रूप योग निरूपण अर्थात् कहा गया है तद्विषयक बुद्धि का नाम योगबुद्धि हैं सोई बुद्धियुक्त कर्म्मी पुरुष का भी नाम योगी है इस प्रकार से दोनो निष्ठा दिखाई है उन के बीच सांख्य नाम ज्ञाननिष्ठा औ योग रूप कर्म्मनिष्ठा ये दोनो भी आगे पृथक् पृथक् कहि जायङ्गी इसी से सांख्य बुद्धिका आश्रय ज्ञाननिष्ठा औ योगबुद्धि का आश्रय कर्मनिष्ठा ये दोनो निष्ठा एक काल मे एक पुरुष करके अनुष्ठान करि जाय यह किसी प्रकार से सम्भव नहीं होता है यही शतपथ ब्राह्मण मे कहा है कि जो ज्ञान औ कर्म्म समुच्चय अभिप्रेत हों तो ये सब विभाग वचन और किसी प्रकार सम्भव नहीं है। और इस प्रकारसे अर्जुनकी प्रश्न भी ठीक नही होती है क्यों कि ज्ञान औ कर्म एक कालमे एक पुरुष को नितान्त असम्भव है यह पूर्व न कहने से अर्जुन किस प्रकार कर्मसे ज्ञानको श्रेष्ठ जानि भगवानसे मिथ्या आक्षेप करैंगे और सर्व उपदेश मे ज्ञान औ कर्म इन दोनो के मध्य मे जो श्रेय हो सो हमको कृपा कर कहो इस प्रकार एक विषयक प्रश्न हीं वा कहो किस तरह सम्भव हैं जो भगवतके उक्त वचनोंका अर्थ न समझके अर्जुन ऐसो प्रश्न किये हो तो भी अर्जुनसे भगवानके ऐसे प्रतिवचन सम्भव नहीं होतेहैं क्षत्रीका स्वधर्म जो युद्ध रूप स्मृतिविहित कर्म तिस के सहित ज्ञान सम्पादन करना भी विहित नहीं है। क्यों कि सो होने से

भाषसे । गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥ नत्वेवाहं जातु नासं न

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्णके प्रति अर्ज्जुनका इस प्रकारका अनुयोग करना कभी सम्भव होता नहीं इसीसे गीताशास्त्र से लेशमात्र भी श्रौत या स्मार्त्त कर्म के सहित ज्ञान सम्पादन का प्रतिपादन करने को कोई भी समर्थ न होंयगे । अज्ञान किम्वा राग आदि दोष वशते कर्म्म मे प्रवृत्त मनुष्य को यज्ञ दान तप आदि के द्वारा सत्त्व शुद्धि पूर्वक परमार्थ तत्त्वज्ञान होनेसे परलोक संग्रहके अर्थ जो फेरि भी कर्ममे प्रवृत्ति होय तो उस कर्म को कर्म नहीं कहते हैं सुतरां तिसके सहित ज्ञान का सम्पादन नहीं होता है जैसे भगवान श्रीकृष्ण के सकल धर्म्म समुचित नहीं और जैसे काम्य कर्म मे कामना न रहने से फेरि और वह काम्य कर्म नहीं हो सकता है जिस हेतु उस मे फलाभिसन्धि कहे फल की इच्छा नहीं है । तो फेरि जो जनक आदि राजा कर्म के द्वारा मुक्त हुये थे यह ग्रन्थों मे वर्णन किया है सो केवल लोक संग्रह के अर्थ मात्र अर्थात् सब कर्म का परित्याग होने से भी गुण औ गुणी ज्ञान वशते कर्म आभास के साथ उन की मुक्ति भई थी अर्थात् कर्म के त्याग मे अधिकार होने से भी कर्म त्याग न करि के उस के सहित निर्व्वाण पद प्राप्त किया और जो कहो कि जनकादि राजा पूर्व मे तत्त्वज्ञानी नहीं थे तो भी ज्ञान के साधन भूत सकल कर्म ईश्वर को समर्पण करने से उन को सत्त्व शुद्धि अथवा ज्ञान की उत्पत्ति भई थी भगवान ने इस गीता शास्त्र मे यही प्रतिपादन करि के पीछे सोई प्रकार शुद्ध सत्वगुण मनुष्य की ज्ञाननिष्ठा निरूपण किया है इस से केवल तत्त्व ज्ञानसे जो मुक्ति होती है और उसमे जो कर्मके सहायताकी अपेक्षा न करै यही इस गीता शास्त्र का निश्चित अर्थ है यह अर्थ आगे प्रकरण पाय के देखाया जायगा इस प्रकार गीता शास्त्रका तात्पर्य्य अर्थ निर्णय किया गया है परन्तु अब धर्मसे व्यग्र मिथ्या भ्रमविशिष्ट कहे युक्त महत् शोक सागर मे डूबे हुये अर्जुन को आत्म ज्ञान के बिना उद्धार होने को और कोई उपाय न देखि करके भगवान श्रीकृष्ण अर्ज्जुन के प्रति तत्त्वज्ञान का उपदेश करते हैं । प्रथम अध्याय के २८ श्लोक से लेकर तुम जो कुटुम्बके जनोंका शोक करते हो सो वे सब तुमारे

त्वं नेमेजनाधिपाः। नचैवनभविष्यामः सर्व्वेवयमतःपरम्॥ १२॥ देहिनोऽस्मिन्
यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र नमुह्यति॥१३॥

भाषा अनुवाद

शोचनेके योग्य नहीं है और द्वितीय अध्यायके २ श्लोक से लेके हमसे प्रबोध कराये अर्थात् समझाये गये भी तुम जो पण्डितमानी के समान ये वचन उच्चारण करते अर्थात् कहते हो कि भीष्म पितामहो को संग्राममे हम कैसे मारैं इससे यह प्रतीति होती है कि तुम यथार्थ पण्डित नहीं हो जिस हेतु बुद्धिमान पण्डित जो है वे गतप्राण अगतप्राण अर्थात् मरे औ जीवते को नहीं शोचते हैं कि बन्धु विहीन हम कैसे जीयेंगे॥११॥ भीष्म आदिके प्रति जो शोच करना अनुचित है इस मे श्रीभगवान कारण कहते हैं कि देखो हम परमेश्वर हमारा शरीर धारण करना केवल लीला के अर्थ है इससे इस देह के होने जाने वशते हम कभं पूर्व मे नहीं रहे थे यह सम्भव नहीं होता जिस हेतु हम अनादि और हमारे अंशते उत्पन्न तुम और ये सब राजा लोक भी कभो नहीं रहे थे यह भी सम्भव नहीं है इस से हम जैसे पहले थे तैसे अब भी हैं फेरि आगे भी हम सब होयङ्गे इस से आत्म- स्वरूप देहके जन्म औ मरण का स्वभाव ही है तौ फिरि स्वजन विनाश कहो शोक का विषय कैसे है नहीं हो सकता है॥ १२॥ जो कहो कि तुम ईश्वर तुमारा जन्म औ विनाश न होना सम्भव है परन्तु हम लोग जीव हैं इससे हमारा जन्म मरण प्रसिद्ध है इस विषयमे भगवान कहते हैं कि देखो देहाभिमानी जीव को इस स्थूल शरीर मे जैसे कौमार यौवन औ वृद्धा अवस्था प्राप्त होती हैं परन्तु जीव स्वरूप को नहीं होती हैं और यही सब अवस्थों के मध्य मे पूर्व अवस्थाके बीत गये और और अवस्था प्राप्त भये पर भी संस्कार वशते सोई हम हैं यह ज्ञान रहता है तैसेही जीवको भी स्थूल देह के नाश होने पर लिङ्ग शरीर के द्वारा देहान्तर प्राप्ति होनेसे भी आत्माका नाश नहीं होता है देखो तुर्त्तके भये हुये बालकको पूर्व देह के संस्कार वशते जन्म होते ही मात दूध पीनेमे प्रवृत्ति देख पडती है इसीसे स्थूल देह के जन्म नाश भये पर धीर पुरुष भ्रम नहीं होते अर्थात् आत्मा का जन्म मरण अङ्गीकार नहीं करते हैं॥१३॥ और जो कहो कि हम भीष्म आदिके प्रति

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥ यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥ अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशम-

भाषा अनुवाद

शोक नहीं करते हैं परन्तु उनके वियोग मे हमै दुःख करनाहीं होगा इस लिये हम अपनेको शोचते हैं इस वातपर कहते हैं कि सकल वस्तु जिसके द्वारा परिमाण की जांय ऐसी जो सब इन्द्रिय वृत्ति कहे संयोग और उन के द्वारा जो विषयों का स्पर्श होना यही शीत उष्णादि के द्वारा सुख दुख देता है किन्तु वे शीतादिक सब अनित्य हैं इससे उनको धीरज धरके सहो जैसे जल अग्नि धर्म्म आदि संयोग से कालस्वभाव वशते शीत उष्ण होने से सुख दुख हैं तैसे इष्ट औ अनिष्ट प्राप्त होनेसे भी सुख दुख होता ही है परन्तु वह अनित्य और मिथ्या है इससे तुमको उनका सहना उचित है तुम ऐसे धीर वीर पुरुष को उन मे हर्ष विषाद करना अति अयोग्य और वृथा है ॥ १४ ॥ जिस हेतु कोई उपाय अवलम्बन करि शीत उष्ण का वारण करनेसे कष्टकरि उनका सहना हीं उचित हैं क्योंकि उसमे वडा फल है यही कहते हैं कि हे पुरुषश्रेष्ठ अर्ज्जुन जिन धीर पुरुषों को सुख दुख समान भाव है अर्थात शीत उष्ण मे क्लेश बोध नहीं होता सोई विक्षेप रहित पुरुष धर्म्म औ ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी हैं ॥१५॥ और जो कहो कि तौभी अति दुःसह शीत उष्ण उन को हम कैसे कर सहैं और जो वडा क्लेश करिके किसी तरहसे सहैं तो कदाचित इस आत्माका नाश हो सकता है यह शङ्का करि कहते हैं कि विचार से तो वे सब कहे जाय सकते हैं देखो जैसे अति तुच्छ औ अनात्मधर्म अर्थात् शरीरके धर्म जो शीत उष्ण प्रभृतिहै उनका आत्मासे कुछ संबंध नहीं है और सत् स्वभाव जो आत्मा उसका कभू भी विनाश नहीं होता है यथार्थ दर्शी तत्त्वज्ञानी पुरुष इसी प्रकार से सत असत् इन दोनो पदार्थ को निर्णय किया है इससे विवेक ज्ञान के द्वारा शीत उष्ण आदि तुम सहा करो घवडाते काहे लिये हो ॥ १६ ॥ अविनाशी सत वस्तु का स्वरूप सामान्य से वर्णन करिके फेरि विशेष

व्ययस्यास्य नाकश्चित् कर्तुमर्हति ॥१७॥ अन्तवन्तइमेदेहानित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्वभारत ॥ १८ ॥ यएनंवेत्तिहन्तारंयश्चैनं मन्यते हतम्। उभौतौनविजानीतोनायंहन्तिनहन्यते ॥१९॥ नजायतेम्रियतेवाकदाचिन्नायं भूत्वाभविताबानभूयः। अजोनित्यःशाश्वतोऽयंपुराणोनहन्यतेहन्यमानेशरीरे ॥

भाषा अनुवाद

रूपसे कहते हैं कि जो इस अनित्य देह मे साक्षीरूप सब ठौर व्याप्त हो कर रहा है वही आत्मा को तुम अविनाशी जानो जिस हेतु उस के विनाश करने को किसी की सामर्थ्य नहीं है॥१७॥ अब उत्पत्ति विनाश धर्म्म विशिष्ट देहादि की अनित्यता देखावते हैं कि नित्य अर्थात् सदा एक रूप से स्थित और इसी से अविनाशी औ अपरिमेय कहे जानबे जोग नहीं ऐसा जो देही कहे आत्मा है और सुख दुख आदि धर्मविशिष्ट नश्वर अर्थात् विनाशहोनेवाली यह देह है ऐसा तत्त्वज्ञानी कहते हैं इसीसे जानो कि जो स्वरूप से आत्माका विनाश तथा सुख दुख आदिका सम्बन्ध नहीं है तो मोहजनित शोक को परित्याग करिके युद्ध मे तुम प्रवृत्त होउ और अपना क्षत्रीका परमधर्म्म जो युद्ध सो कभूं न छोडो छोडना नहीं चाहिये॥१८॥ भगवान की इन सब बातों से महात्मा भीष्म पितामह के मृत्यु हेतुक जो अर्जुन को दुख शोक आय के प्राप्त भया था सो सब दूर भया और अब कुटुंब के वध करनेवाले हम हैं यह दुख जो प्रथम अध्याय के ३४ श्लोकमे कहा हैं सो उस दुख के उत्पन्न होने मे कोई हेतु नहीं है यह प्रतीति भगवान करावते हैं कि यह आत्मा न किसी से मरता और न किसीको मारता है फेर जो कोई इसको हन्ता जानता और इस को हत मानता है वे दोनो भी कुछ नहीं जानते हैं॥ १९ ॥ आत्मा का नाश नहीं है यह बात षड्भाव विक्रिया कहे विकार का अभाव कथन के द्वारा भगवान दृढ़ करते हैं कि आत्मा का जन्म होता नहीं अर्थात् उस का जन्मरूप विकार नहीं है और कभी मरता भी नहीं अर्थात् विनाश रूप विकार उसका नहीं है और आत्मा उत्पन्न होके विद्यमान है यह भी नहीं अर्थात् वर्त्तमानरूप विकार नहीं है जो जन्म धरै है सोई वर्त्तमान भी होता यह तो अज तथा पूर्व्व से सदा सर्व्वदा विराजमान है इसका फेरि जन्म ले कर विद्यमान होना

२० ॥ वेदाविनाशिनंनित्यंयएनमजमव्ययम्। कथंसपुरुषःपार्थकंघातयतिहन्तिकम्॥

भाषा अनुवाद

कहां यह अतिही असम्भव है और यह नित्य सदा एकरूप अर्थात् इसका वृद्धि-रूप विकार नहीं है और यह शास्वत अथात् क्षयरहित है और पुराण अर्थात् इस का परिणाम नहीं है परिणाम कहते वदलने को अर्थात् रूपान्तर होने को आत्मा पुरातन होके भी देहके साथ नया सा होता दीखै है देखो शरीर संयोग मे परिणत होके भी रूपान्तर को प्राप्त नहीं होता है ज्योंका त्योंही रहता और भी कहते कि पहले नहीं था अव भया और वढ़ता है यह कुछ वात भी आत्मा मे नहीं है इस अर्थमे भी वृद्धिरूप विकार रहित होता है इस विषयमे अज औ नित्य ये दोनो शब्दोंके रहनेसे और कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं है इसीप्रकार आत्मा का जन्म विद्यमानता वृद्धि परिणाम अपक्षय कहे घटना औ विनाश ये छ विकारों का अभाव सांख्य शास्त्र से निर्णय किया है अव जो वाकी रहा सो कहते हैं कि शरीर हत होने से भी आत्मा नहीं होता जिस हेतु वह अविनाशी हैं॥ २०॥ पूर्व श्लोक मे आत्मा को षड्विकार रहित कहा है इस से आत्मा हनन किया जो मारना तिस का कर्त्ता कहे करने वाला नहीं है यह वात अच्छी प्रकार से सिद्ध भई सोई भगवान कहते हैं कि जो कोई इस आत्मा को घटने वढ़ने से रहित तथा जन्म हीन औ अविनाशी जानते हैं हे अर्जुन वे किस वास्ते किसी को मारेंगे कारण यह कि आत्मा जो अविनाशी उस के वध को उपाय कोई नहीं है और आप प्रेरणा करि और किसी से किसी को भी किस लिये घात करावेगा इस कहने से श्रीकृष्णजी की यह अभिप्राय जानी गई कि भीष्म आदि के वध मे प्रयो-जक कहे प्रेरक रूप दोष हमै कभी न दीजो अर्थात् तुमारे कहने से यह काम हमने किया है ऐसी कभी कहियो नहीं॥ २१॥ जो कहो कि आत्मा अविनाशी भी होय पर तौ भी उस की इस स्थूल देह का नाश देख कर हम शोच करते हैं तों देखो जैसे मनुष्य जीर्ण कहे पुराने वस्त्र परित्याग कहे उतार कर और नये कपडे धारण करते अर्थात् पहिरते हैं तैसे ही आत्मा पूर्व प्राचीन शरीर कहे देह को छोड़ कर और नूतन कहे नई देह ग्रहण करता है इस से कर्म के अनु-

॥२१॥ वासांसिजीर्णानियथाविहायनवानिगृह्णातिनरोऽपराणि। तथाशरीराणि
विहायजीर्णान्यन्यानिसंयातिनवानिदेही ॥ २२ ॥ नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणिनैनंदहति
पावकः। नचैनंक्लेदयन्त्यापोनशोषयतिमारुतः ॥ २३ ॥ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम-
क्लेद्योऽशोष्यएवच। नित्यःसर्वगतःस्थाणुरचलोऽयंसनातनः ॥२४॥ अव्यक्तोऽयम-
चिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते। तस्मादेवंविदित्वैनंनानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥ अथ

भाषा अनुवाद

सार देह का अवश्य होनहार जो जन्म औ नाश तिस मे शोच करना तुम ऐसों पण्डित को उचित नहीं है॥ २२ ॥ अब २१ श्लोक मे कहा जो आत्मा के बध के साधन का अभाव कहे निरुपाय अर्थात् किसी प्रकार से आत्मा का बध नहीं हो सकता है यह देखाय करि अब आत्मा अविनाशी है इस बातको दृढ़ करते हैं कि सकल अस्त्र शस्त्र इस आत्मा को छेदन नहीं करि सकते और अग्नि भी इस को दग्ध करने को समर्थ नहीं है जल इस को आर्द्र कहे गीला नहीं करि सकता और वायु भी इस को सुखाय नही सकती है क्योंकि यह अवयव कहे अंग रहित हैं और इन सब की सामर्थ्य अवयव सहित मे है अर्थात् भौतिक कहे पञ्चभूत निर्मित वस्तुमे है॥ २३ ॥ इसका कारण यह कि आत्मा अस्त्र शस्त्र से छिन्नभिन्न किम्बा आग से दग्ध और जल से आर्द्र और वायु से शुष्क भी नहीं सकता है इसी से आत्मा नित्य औ अविनाशी तथा सर्व्वत्र विद्यमान है और स्थिरस्वभाव अचल अनादि है ॥२४॥ और यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् चक्षुरादि कर्म इन्द्रियों का विषय नहीं है यह बात भी कहचुके हैं और अचिन्त्य अर्थात् मनकोभी अगम्य कहे ध्यान से बाहर हैं और अविकारी अर्थात् जन्मनाश अथवा छोटा बड़ा नया पुराणा होना अथवा किसी रूपमे बदलना भी नही इसका ऐसे ही तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं इस से जन्म नाश शून्य कहे रहित आत्मा के स्वरूप को अच्छि तरह से जान बूझ कर तुम इस झूठे शोक सन्ताप को परित्याग करो ॥ २५ ॥ और विचार करि देखि जब कि आत्मा के जन्म तथा नाश का अभाव है तो फेरि आत्मा के अर्थ शोक करना किसी प्रकार उचित नहीं है यह बात निर्धार कर के ठहराई गई है अब जो देह के जन्म औ नाश से आत्मा का जन्म नाश है कदाचित ऐसा अङ्गी-

चैनंनित्यजातंनित्यंवामन्यसेमृतम्। तथापित्वंमहाबाहोनैवंशोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्यहिध्रुवोमृत्युर्ध्रुवंजन्ममृतस्यच। तस्मादपरिहार्य्येऽर्थेनत्वंशोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनिभूतानिव्यक्तमध्यानिभारत। अव्यक्तनिधानान्येवतत्रकापरिवेदनः॥

भाषा अनुवाद

कार करि मानो तौभी तुमको शोच करना अनुचित है यह कहते हैं कि पुण्य औ पाप तथा तिन के फल सुख दुख औ जन्म नाश इन सब का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहने से यद्यपि देहके जन्म होनेसे आत्मा का जन्म और देहके नाश से आत्मा का नाश हैं इस रीति से उसके जन्म नाश को नित्य मानो पर तौ भी जन्म नाश अवश्यं भावी अर्थात् निश्चय होने वाला ही हैं फेरि भी उस के अर्थ तुम को शोचना क्या योग्य है नहीं हैं ॥ २६ ॥ काहे से शोचना योग्य नहीं हैं इसका हेतु कहते हैं कि जिस लिये जो वस्तु जन्म ग्रहण करती है उस के आरब्ध कर्म्म के क्षय होने से निश्चय उसकी मृत्यु अर्थात् नाश होता है ऐसे ही मरेका भी पूर्व देहकृत कर्मवशते फेर अवश्य ही जन्म होता है इसी से एवम्भूत अनिवार्य्य कहे अमेट अवश्यभावी कहे होनेवाले जन्म औ मरण के विषयमे तुमको शोच करना तुमको किसी तरह योग्य होता नहीं क्योंकि तुम विद्वान कहे पण्डित हौउ पण्डितका अर्थ यह है कि सत असतकी विवेकिनी कहे विचारकरनेवाली बुद्धिको पण्डाकहते हैं सो जिसको होय सो पण्डित है आत्मा से भिन्न जो कुछ है सो असत् जानो सत एक आत्माहीं है ॥२७॥ और जो कहो कि देहादि का स्वभाव जो जन्म मरण आदि तदुपाधिक आत्मा का जन्म मरण विचारि करि हम शोचते हैं तौभी शोच करना तुमको न चाहिये इस पर भगवान कहते हैं कि अव्यक्तादि अर्थात् अव्यक्त कहे प्राणियों की उत्पत्ति का मूल कारण जो प्रकृति माया सो प्राणियों की उत्पत्ति के पूर्वकारणरूप से सब जीवों को अपने भीतर लीन कर के अव्यक्त कहे अप्रकट रहती हैं और व्यक्त मध्य अर्थात् जन्म मरणके मध्य मे सकल प्राणी वर्त्तमान अवस्था मे विराजमान रहते हैं और अव्यक्त निधन अर्थात् अन्त मे स्वकारण जो माया तिस मे सब प्राणी लीन हो के रहते हैं इस से हे अर्जुन ऐसे रहनेवाले प्राणियों को मृत्युसे किसीतरह शोच करना न चाहिये जैसे जगे हुये मनुष्य को स्वप्न मे देखी भई वस्तु के अर्थ शोक

२८॥ आश्चर्य्यवत्पश्यतिकश्चिदेनमाश्चर्य्यवद्वदतितथैवचान्यः। आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः
शृणोतिश्रुत्वाप्येनंवेदनचैवकश्चित्॥ १०॥ देहीनित्यमवध्योऽयंदेहेसर्वस्यभारत।
तस्मात्सर्वाणिभूतानिनत्वंशोचितुमर्हसि॥ ३०॥ स्वधर्म्ममपिचावेक्ष्यनिवकम्पितुम-

भाषा अनुवाद

करना अयोग्य है तैसे यह भी जानो॥ २८॥ तौ फेरि बडे विद्वान लोग जो शोक करते चले आते हैं सो केवल आत्मा विषयक अज्ञानता ही से होता इस अभिप्राय से आत्मा की दुर्ज्ञेयता कहे ज्ञान कठिनता का निरूपण करते हैं कि कोई तो शास्त्र आलोचना करि के इस आत्मा को जानि बूझ के भी आश्चर्य ऐसा जानते अर्थात् सर्व्वगत नित्य ज्ञान औ आनन्दस्वरूप आत्मा के अलौकिक हेतु से असम्भव जो इन्द्रजालिक कौतुक तिस के समान देखि आश्चर्य्य से घबड़ाय कर विस्मययुक्त होते हैं और कोई आश्चर्य्य के नाईं कहते कोई आश्चर्य्य के तुल्य सुनते और कोई आत्मज्ञानस्वरूप विपरीत कहे उलटी भावनासे अभिभूत होके इस आत्मा का तत्त्व सुनि के भी जानि सकते नहीं अर्थात् बहुत देखि सुनि के भी अच्छी तरह से आत्मा का जानना अति कठिन है॥ २९॥ इस प्रकार आत्मा का दुर्विज्ञेय स्वभाव अर्थात् बडे कष्ट से भी उसका जानना कठिन है यह संक्षेप से उपदेश करि के अब शोक न करना इस विषय मे कहते हैं कि जैसे सब प्राणियों को नश्वर कहे नाश होनेवाली देह मे वर्त्तमान यह देही कहे आत्मा सो देह नाश होने से भी नष्ट नहीं होता है क्योंकि आत्मा नित्य औ अवध्य है इसी से भूत जो प्राणी तिन की देह नाश के अर्थ तुम को शोक करना उचित नहीं है॥ ३०॥ प्रथम अध्याय के २९ श्लोक मे अर्ज्जुनने कहा है कि हमारी शरीर कांपती औ रोवां खडे होते तथा हाथसे धनुष वाण गिरे पडते हैं सो यह भी तुम को अयोग्य असम्भव है जिस हेतु स्वधर्म जो संग्राम तिसमे प्रवृत्त हो के फेरि भीष्म पितामह आदि के हनन करने से अविनाशी आत्मा का विनाश मानि तुमारा डरना और कांपना यह युक्तिसे सिद्ध होता नहीं और ३१ श्लोक मे कहा है कि ये अपने जनों को नाश करि के हम श्रेय कहे कल्याण नहीं देखते उस बात पर भगवान कहते हैं कि धर्म्म युक्त जो न्याय युद्ध तिसकी अपेक्षा अर्थात् उस से बढ़ि कर क्षत्रियों को और कौन कल्याण

र्हसि। धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥ यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥ अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥ अकी

भाषा अनुवाद

करनेवाला कर्म है अर्थात् कोई भी नहीं है ॥३१॥ और जो कहो कि युद्ध आदि अनेक प्राणियोंकी हिंसा युद्धमे होयगी औ शास्त्र मे अहिंसा परमधर्म कहा है इससे युद्ध करना अति अनुचित है इसपर श्रीकृष्ण कहते कि जैसे वेद विहित जो यज्ञ मे हिंसा सो हिंसा नहीं हैं तैसे ही शास्त्रसम्मत जो क्षत्री का परम धर्म युद्ध तिस में हिंसा औ पापकी कल्पना वृथा करते हो और परम श्रेयरूप महाफल आपसे आप आय तुम को उपस्थित कहे प्राप्त भया हैं इस से अब तुम किस कारण कम्पमान होते हो सोई यह दृढ़ करके कहते हैं कि हे अर्जुन वे मांगे वे यतन किये आप से प्राप्त परमश्रेय कहे कल्याण साधन युद्ध जिस से परम कल्याण सिद्ध होय ऐसा युद्ध अति भाग्यवान क्षत्री लोग पावते हैं क्यों कि इस से स्वर्ग का द्वार वेरोंक टोंक खुला रहता हैं अथवा जो इस प्रकार का युद्ध पावें सोई सुखी हैं इस श्लोक से प्रथम अध्याय का छत्तीसवां श्लोक कहा गया कि किस तरह आत्मीय जनों को नाश करि सुखी होंयगे इस बात का भगवानने उत्तर दिया है॥ ३२ ॥ और जो यह स्वधर्म रूप संग्राम न करोगे तो केवल फल प्राप्ति न होगी यही नहीं हैं और उलटा प्रत्यवाय कहे अधर्म भी होगा सोई दोष कहते हैं कि जो तुम इस धर्म जनक उपस्थित कहे प्राप्त भये युद्ध करने मे प्रवृत्त न होउगे तो तुम अपने धर्म औ कीर्त्तिके त्याग करने से अवश्य पाप के भागी होउगे इस से कुछ सन्देह नहीं हैं ॥३३॥ और जो कहो कि स्वधर्म औ कीर्त्ति जाय हम हिंसा न करेंगे तो युद्ध न करने से केवल स्वधर्म औ कीर्त्ति ही का त्याग नहीं हैं और भी है सो कहते हैं कि युद्ध छोडने से लोग तुमारा अयश कहेंगे और वह अयश चिरकाल कहे बहुत दिनों तक संसार मे रहेगा और तुम क्षत्रियों के बीच युद्ध करने मे प्रसिद्ध वीर हो देखो जो जिस बात मे ख्यात कहे नामी हैं और लोग उसको प्रतिष्ठित बड़ा करि जानते मानते हैं तो फेरि उसका उसी बातमे अयश यह मरने से भी अधिक

र्त्तिञ्चापिभूतानिकथयिष्यतितेऽव्ययाम्। सम्भावितस्यचाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
३४॥ भयाद्रणादुपरतंमंस्यन्तेत्वांमहारथाः। येषाञ्चत्वंबहुमतोभूत्वायास्यसि
लाघवम्॥३५॥ अवाच्यवादांश्चबहून्वदिष्यन्तितवाहिताः। निन्दन्तस्तवसामर्थ्यं
ततोदुःखतरंनुकिम्॥३६॥ हतोवाप्राप्स्यसिस्वर्गंजित्वावाभोक्ष्यसेमहीम्। तस्मादु-

भाषा अनुवाद

हैं और सब पाप औ दोषों का दाता हैं इस को अच्छी तरह विचार कर देखो॥
३४॥ भगवान कहते हैं कि अर्जुन तुम को अब युद्ध करना हीं उचित है क्यों
कि तुम तो यह जानते हो कि प्राणियों के ऊपर दया करि हम संग्राम छोड़ते
पर महारथी वीर तुम को भय से युद्ध विमुख जानैङ्गे जो तुम को पूर्व्व कहे पहिले
सकल गुण सम्पन्न कहे युक्त जानते थे वें लोग अब तुम को कर्ण आदिक योद्धों
के भय से युद्ध विमुख मानैंगे देखो जिन दुर्य्योधन आदिकों को तुम बहुत मत कहे
मान्य रहे उनके निकट अब तुम कैसे लघु कहे हलके होउङ्गे तो इस हंसी के डर
से युद्ध करना तुम को अवश्य हैं॥३५॥ इस से अब तुम युद्ध से निवृत्त न होउ
और जो कहो कि भीष्म तथा द्रोण आदि का बध बड़ा कष्ट हैं तो देखो तुमारे शत्रु
गण तुमारी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुये तुमारे प्रति अनेक अनेक अयोग्य दुर्वचन
कहेंगे तो इस से और दुख कौन हैं यह कष्ट से भी महा कष्ट हैं॥ ३६॥
तो युद्धकरि गुरु आदिके बधसे निन्दा होगी औ संग्राम छोड़ने से शत्रु निन्दा करैंगे
इस दुविधा चिन्ता के उपर कहते हैं और दूसरे अध्याय के छठयें श्लोक मे जो
अर्जुन ने कहा कि इन को हम मारैं या येई हमैं जय करि लेंय इस का भी उत्तर
श्रीकृष्ण करते हैं कि जय करैङ्गे या पराजय पावेंगे इसकी निश्चय करिके अब तुम
उठो जो कहो कि इस दैव आधीन जय पराजय का क्या निश्चय है तो इस युद्धमे जो
तुमारी मृत्यु होयगी तो स्वर्गवास पावोगे और जो शत्रुवों को जीतोगे तो पृथिवी
का राज्य औ भोग करोगे तिस से हे कौन्तेय अर्जुन युद्ध करने की निश्चय करि के
उठो तुमारे तो दोनो हाथ लडुआ हैं॥३७॥ जो कदाचित् बन्धु बध हेतुक आपही को
निश्चय करि राखेहउ उस के डरसे युद्ध मे निश्चय करिके नहीं उठि सकते हो यह
कहो तो सुहृद मित्रोंके जीवन और मरणनिमित्तक सुख औ दुखकी समता कहते हैं

त्तिष्ठकौन्तेययुद्धायकृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥ सुखदुःखेसमेकृत्वालाभालाभौजयाजयौ। ततोयुद्धाययुज्यस्वनैवंपापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥ एषा तेऽभिहितासांख्येबुद्धिर्योगे त्विमांशृणु। बुद्ध्यायुक्तोययापार्थकर्म्मबन्धंप्रहास्यसि ॥ ३९ ॥ नेहाभिक्रमनाशो

भाषा अनुवाद

कि प्रथम सुख औ दुख तथा लाभ औ हानि जय पराजय इनको समान जानि करि औ प्रीति विरोध को भी त्याग करि के तब युद्ध मे प्रवृत्त होउ इस प्रकार से युद्ध करने से पाप न प्राप्त होयगा अर्थात् न लगेगा ॥ ३८ ॥ पूर्व्व कथित जो ज्ञान योग उस को कहि करि अब उस का साधन जो कर्म्मयोग सो कहते हैं कि वस्तु औ तत्त्व को प्रकाश करनेवाला सांख्य नामक तत्त्वज्ञान तुम से कहा गया अर्थात् तत्त्वज्ञानके विषय मे जो बुद्धि सो मैने तुम को कहा है इस से तुमारे मन मे तत्त्व ज्ञानका बोध न भयाहोय तौ फिरि चित्तशुद्धि के द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेके अर्थ अब यह कर्म्मयोग अर्थात् कर्म्मयोग के विषय की बुद्धि हम कहते हैं सो सावधान हो कर सुनो कि हे अर्ज्जुन जिस हेतुसे ईश्वरार्पित कर्मके द्वारा चित्त की शुद्धि हो कर ईश्वर के प्रसाद से प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करि अर्थात् पाय करि इस बन्धन से अनायास अर्थात् सहज मे छूटि जाउगे ॥ ३९ ॥ और जो कहो कि जैसे खेती औ वनिज वैपार आदि कर्म्मो मे कदाचित कहे कभूं कभूं विघ्नो को बाहुल्य कहे बहुतायत से फल के हानि की भी सम्भावना है अर्थात् निष्फल परिश्रम भी होता है और तन्त्र अनुष्ठान कहे जप यज्ञ आदिक मे भी विघ्न अथवा अङ्ग विकल होने से प्रत्यवाय कहे दोष औ कर्म्म निष्फल होता हैं तैसे जो यह कर्म्म जो विघ्नो के मारे पूरा न हो उठै तौ कैसे कर्मबन्ध की हानि कहे नाश होगा और उलटे दोष लगने का डर हैं इस वास्ते भगवान कहते हैं कि यह निष्काम कर्म्मयोग का आरम्भ करने से जो पूरा न भी हो उठै तौं भी निष्काम कर्म्म निष्फल होता नहीं और इसमे दोष पाप भी नहीं लगता हैं जिस हेतु ईश्वर को उद्देश करि अर्थात् ईश्वर के अर्थ किये कर्म्म मे विघ्न होते ही नहीं और ईश्वराराधन के अर्थ इस धर्म के थोडे आचरण से भी बडे भयानक संसार से रक्षा होती हैं अर्थात् ईश्वरार्पित कर्म्म रक्षा करता है इस से यह काम्यकर्म्म की तरह कुछ अङ्ग विकल होने से भी

ऽस्तिप्रत्यवायोनविद्यते । स्वल्पमप्यस्यधर्मस्यत्रायतेमहतोभयात् ॥ ४० ॥ व्यवसा-
यात्मिकाबुद्धिरेकेहकुरुनन्दन । बहुशाखाह्यनन्ताश्चबुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥
यामिमांपुष्पितांवाचंप्रवदन्त्यविपश्चितः । वेदवादरताःपार्थनान्यदस्तीतिवादिनः ॥

भाषा अनुवाद

निष्फल नहीं होता है तात्पर्य्य यह कि ईश्वरार्थ कर्म्म करने से जो दोष न लगे और महत् फल है तो साक्षात् ईश्वर की आज्ञा करने मे और क्या कहना हैं ॥४०॥
जो कहो कि कणाद आदि आचार्य्यों के मत मे ज्ञान कर्म उपासना रूप अनेक प्रकार की बुद्धि कही हैं और आप जहां ज्ञानयोग रूप औ कर्मरूप दोही प्रकार बुद्धि के कहा सो कैसे सम्भव होय इस अभिप्राय पर उक्त इन दोनो के भी विप-रीत कहे उलटा भिन्न प्रकार कहते हैं कि हे कुरुनन्दन अर्जुन यह ईश्वर आरा-धन रूप कर्मयोग मे व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् मद्भक्ति के द्वारा अवश्य ही उद्धार होगा ऐसी निश्चयात्मिका कहे निश्चय रूप बुद्धि की निष्ठा एक ही हैं और अव्यव-सायी अर्थात् आराधन के बहिर्मुख कामी कहे सकाम कर्म करनेवालों की अनन्त वासना से अनेक प्रकार की बुद्धि होती हैं और उस मे भी कर्मका फल और अश्व-मेध राजसूय आदि यज्ञ का अङ्ग दिग्विजय की भांति गुण कला आदि नाना प्रकार बहुत शाखा प्रशाखा विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती हैं परन्तु भगवत् आरा-धन के अर्थ नित्यकर्म या नैमित्तिक कर्म कुछ अङ्ग विकल कहे अधूरा भी होने से नष्ट नहीं जाता हैं यथा साध्य कहे जितना या जैसा अपने से हो सके उतना औ वैसा ही करौ यही उस धर्म की विधि है ईश्वरार्पित कर्म्म विघ्न औ दोष को शान्त करि देता इस से उस के करने मे कदाचित वैगुण्य नही होतो अर्थात् उस को विगुण नहीं कह सकते हैं और काम्यकर्म्म तैसा नहीं है इस से दोनो के बीच बड़ा अन्तर है सो एक बुद्धि हो के रहो दुविधा मन से दूर करो ॥४१॥
जो कहो कि सांख्य योग रूप बुद्धि एक ही प्रमाणभूत है तो फेरि वही सब के चित्त मे क्यों नही स्थिर होती अर्थात् जो सकाम मनुष्य हैं वे भी ये कष्ट रूप सकल कामना त्याग करि भगवद्भक्ति ही से मुक्त होंयगे ऐसो निश्चय रूप बुद्धि काहे से नहीं करते हैं तिस पर कहते हैं कि विषलता कहे इन्द्रायन की तरह

४२॥ कामात्मानःस्वर्गपराजन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलांभोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ ४३॥ भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानांतयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिकाबुद्धिःसमा-

भाषा अनुवाद

अति सुन्दर यह जो उत्तम स्वर्ग आदि फल सुनावनेवाली श्रुति कहे जो वेदवाक्य है जिस को कामी कहे सकाम मनुष्य सब कहते हैं सोई स्वर्ग आदि फल श्रुति रूप वेदवाक्य से विचार शून्य मनुष्यों को अर्थात् उस पर विश्वास करनेवालों को भगवद्भक्ति से निश्चय मुक्त होयगे ऐसी बुद्धि उत्पन्न कभी नहीं होती है इस श्लोक के आगेवाले तीन श्लोकों के साथ इस श्लोक को अन्वय है जो कहो कि वे मनुष्य ऐसे काहे लिये कहते हैं तो उनका सिद्धान्त भगवान कहते हैं कि जिस लिये वे सब लोग अति मूढ़ औ अज्ञानी हैं उन के अज्ञान में अब हेतु कहते हैं कि वेद के बीच मे जो सब वाक्य हैं सो केवल प्रशंसा पर का हैं अर्थात् चतुर्मासया जीवों को अक्षय स्वर्गफल होता है और यज्ञ के शेष मे सोमलता पी करि अमर होते हैं इत्यादि जो पलाश पुष्प के समान पुष्पित वेदवाक्य हैं अर्थात् निर्गन्ध फूल के तुल्य इसो वेदवाक्यों से काम्यकर्ममे वे लोग निरत हैं इससे कहते हैं कि यह वेदोक्त स्वर्ग आदि फल को छोड़ कर और ईश्वरतत्त्व प्राप्त करने योग्य वस्तु कुछ नहीं है इसो मतको वेलोग कहते हैं॥ ४२॥ अतएव कामात्मा कहे कर्म्मबुद्धि स्वर्गादि फल प्राप्तिरूप कामना ही है परम पुरुषार्थ जिन के मत मे ऐसे जो मूढ़ हैं तेई जन्म कर्म तथा स्वर्ग फल देनेवाली जो वेदवाक्य सब हैं और भोग ऐश्वर्य्य प्राप्त होने के अर्थ साधनभूत जो वेदोक्त कहे वेद विहित अनेक अनेक क्रियों को आधिक्य कहे बहुतायत है जिन से मूढ़जन ऐसे वचन बोलते हैं अर्थात् जन्म ही हैं कर्म्म का फल तिस के देनेबाली वाक्यों को कहते हैं॥ ४३॥ भोग औ ऐश्वर्य्य से आसक्त तथा ऊपर लिखी विषलता के तुल्य सुन्दर वेदवाक्य से आकृष्ट कहे खैंचा गया है चित्त जिन का उनकी समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रतारूप परमेश्वर मे जो एक निष्ठा तिस मे निश्चयात्मिका बुद्धि होती नहीं इस से कर्मरूप जो बुद्धि उस मे कर्त्ता स्वरूप अहङ्कार अर्थात् हम कर्त्ता हैं इस वासना के मारे उन विचारों को ऐसी एकनिष्ठा निश्चयात्मिका बुद्धि आप से आप उत्पन्न कैसे होय यह भगवानने कहा

धीनविधीयते ॥ ४४ ॥ त्रैगुण्यविषयावेदानिस्त्रैगुण्योभवार्ज्जुन । निर्द्वन्द्वोनित्यस
त्त्वस्थोनिर्योगक्षेमआत्मवान् ॥ ४५ ॥ यावानर्थउदपानेसर्वतःसंप्लुतोदके । तावान्
सर्व्वेषुवेदेषुब्राह्मणस्यविजानतः ॥ ४६ ॥ कर्मण्येवाधिकारस्तेमाफलेषुकदाचन ।

भाषा अनुवाद

॥ ४४ ॥ स्वर्ग आदि फल जो परम फल नहीं है तौ फेरि वेदों ने किस लिये स्वर्ग आदि फल के साधन नाना प्रकार के कर्मो का विधान किया है तो कहते हैं कि सकाम अधिकारी जनों के अर्थ वेद कर्मफल का प्रतिपादन अर्थात् कहते हैं परन्तु तुम निष्काम होउ निष्काम होने की उपाय यह है कि निर्द्वन्द्व अर्थात् सुख दुःख शीत उष्ण हानि लाभ जन्म मरण आदि से रहित होउ अर्थात् ये सब सहो जो कहो कि कैसे इनको सहैं तो कहते हैं कि धैर्य अवलम्बन करि के सहो और अप्राप्त वस्तु को प्राप्ति करने की इच्छा जो योग है औ प्राप्त भई वस्तु की रक्षा करना जो क्षेम है इन दूनो को परित्याग करि के सावधान होउ क्यों कि सुख दुख मे आसक्त औ अप्राप्त वस्तु की इच्छा प्राप्त का रक्षण इस मे व्याकुलचित्त असावधान जो है वह निष्काम कैसे हो सकेगा त्रैगुण्य जो त्रिगुणात्मक संसार सो है विषय कहे कथनीय जिनको ऐसे तो वेद हैं पर तुम निस्त्रैगुन्य कहे सांसारिक भाव सुख दुःखादि से रहित होउ ॥ ४५ ॥ जो कहो कि वेदोक्त कर्म्म औ तत्तत् कामनाके फल सकल त्याग करिके निष्काम ईश्वराराधन के अर्थ जो व्यवसायात्मिका बुद्धि सो कुबुद्धि है इस शङ्का को निवारण करते हुये भगवान कहते हैं कि जिस से जल पान किया जाय सो उदपान अर्थात् वावडो कुआं ताल तिन से जो अल्प जल हो तो सब काम साधने के अर्थ अर्थात् स्नान पान आदि करने के वास्ते तहां तहां भ्रमण करिके सब काम सिद्ध होयङ्गे परन्तु संप्लुतोदक कहे एक महा कुण्ड जिस मे अगाध जल भरा है उस एक ही से सब निर्व्वाह हो सकते हैं तैसे ही वेदोक्त जो कर्मके फल सो सब भगवद्भक्तियुक्त ब्रह्मपरायण पुरुष को भक्ति ही से मिलते हैं देखो ये स्वर्ग आदि सम्पूर्ण तुच्छ सुख ब्रह्मानन्द के भीतर ही अन्तरभूत हैं इस ब्रह्मानन्द के कणमात्र आनन्द को प्राप्त हो के सर्व्व प्राणी जीते रहते हैं यह श्रुति मे कहा है इससे निश्चयात्मिका जो बुद्धि सोई सुबुद्धि है ॥ ४६ ॥

माकर्मफलहेतुर्भूर्मातेसङ्गोस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥ योगस्थः कुरुकर्माणि सङ्गं त्यक्त्वाधनञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वासमत्वंयोगउच्यते ॥ ४८ ॥ दूरेणाह्यवरंकर्मबुद्धियोगा

भाषा अनुवाद.

जो ऐसा कहतेहो कि समस्त कर्म का फल परमेश्वरकी आराधना करनेहींसे होगा तो हम भगवतका आराधन हीं सब छोड़कर करैं और कर्म करनेसे क्या प्रयोजन है इस शङ्का को निवारण करते हुये सिद्धान्त कहते हैं कि तत्त्वज्ञानके अर्थी जो तुम सो तुम को कर्म मात्र करने का अधिकार है और बन्धन का हेतुभूत कर्म के फल की अभिलाषा करि के ये अनेक प्रकार की कामना करने मे कभी तुमारा अधिकार नहीं है जो कहो कि कर्म करनेसे उसका फल अवश्य हो होगा जैसे कि आहार करनेसे तृप्ति होती ही है इसपर कहते हैं कि सो होय पर उसका पुण्य पाप नहीं लगता है जैसे अज्ञान बालक जो नीच का अन्न खाय तो उसका धर्म न जाय क्यों कि धर्म नाश के अर्थ नहीं खाया सो तुम फल के अर्थ कर्म मे प्रवृत्त न होउ निष्काम कर्म करो जो कर्मफल की तृष्णा से कर्म करोगे तो कर्मफल प्राप्ति के हेतु होउगे जब फल की इच्छा से कर्म मे मनुष्य प्रवृत्त होता है तब फल औ जन्म दोनोका हेतु हो जाता है नीच ऊंच योनि मे जनमि जनमि के फल भोगता है और जो कर्मफल को न चाहे तो दुखरूप कर्म करने से क्या प्रयोजन है ऐसी मति भी तुम को मति होय अर्थात् न करने मे भी रुचि न होय तात्पर्य्य यह कि सकाम कर्म न करो निष्काम तो अवश्य ही करो ॥४७॥ तो फिरि क्या करना चाहिये सो कहते हैं कि हे धनञ्जय अर्जुन योग कहे ईश्वर मे जो एक निष्ठा उसी मे स्थित होयके कर्म करो और हमी इसके कर्त्ता हैं ऐसे अभिमान को त्याग करिके केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म्म करो अर्थात् निष्काम कर्म्म का फलरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अप्राप्तिमे समता पूर्वक कहे समचित्त होय केवल ईश्वरार्पण जानिकै कर्म अनुष्ठान करो जिस हेतु ऐसी ही समता को साधुलोग योग कहते हैं क्यों कि इसी से चित्त स्थिर होता है यह सुबोधिनीका अर्थ हैं। ईश्वरार्पण शब्द का भाव अर्थ यह है कि हम अपने हृदयमे टिके हुये अन्तर्य्यामी रूप परमेश्वर के आधीन हैं यही अन्तर्य्यामी हमारी वासना के अनुसार शुभ अशुभ जिस कर्म्म मे हम को लगावते उसी

धनञ्जय । बुद्धौशरणमन्विच्छकृपणाःफलहेतवः ॥४९॥ बुद्धियुक्तोजहातीहउभेसु कृतदुष्कृते । तस्मात्योगाययुज्यस्वयोगःकर्मसुकौशलम् ॥ ५० ॥ कर्मजंबुद्धियुक्ता हिफलंत्यक्त्वामनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताःपदंगच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥ यदाते

भाषा अनुवाद

को हम उनकी प्रेरणा से करते हैं ऐसे विचार कर किये हुये सब कर्मों को भग- वत अर्पण कहते हैं सोई पञ्चदशी मे कहा है कि जानामिधर्मंनचमेप्रवृत्ति र्जाना- म्यधर्मंनचमे निवृत्तिः । त्वयाहृषीकेशहृदिस्थितेन यथानियुक्तोस्मितथाकरोमि ॥४८॥ जितने काम्य कर्म हैं सब को निकृष्ट कहे नकारे कहते हैं व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा किये जो कर्मयोग उन का नाम बुद्धियोग और वह ज्ञान साधन का उपायहैं निष्काम बुद्धियोग की अपेक्षा सब काम्यकर्म अत्यन्त अपकृष्ट जो काम्य- कर्म ऐसा तुच्छ ठहरे तो हे धनञ्जय बुद्धि शब्द वाच्य कहे ज्ञान तिस को आश्रय करि निष्काम कर्मयोगरूप भक्तियोग का अनुष्ठान करो चिन्तनीय पालनकरनेवाले ईश्वर हो को बुद्धि का आश्रय करो कर्मफल के अभिलाषी जो नर हैं सो कृपण औ दीन हैं श्रुति मे भी यही कहा है कि हे गार्गि ईस अक्षर स्वरूप ब्रह्म को न जानि जो संसार मे लोकान्तरगामी होते हैं वेई कृपण अर्थात् निकृष्ट हैं इस से बुद्धि कहे ज्ञान उस मे आश्रय लेउ ॥ ४९ ॥ पूर्व्व जो कहा कि सुख दुख आदि मे समान बुद्धि हो कर स्वधर्म को करै तो बुद्धियोग युक्त होने से क्या होता है सोई बुद्धियोग की श्रेष्ठता कहते हैं कि सुकृत जो पुण्य स्वर्ग आदि का देनहार औ दुष्कृत जो पाप नरकवास की प्राप्ति करनेका साधन इन दोनो को बुद्धियोगयुक्त पुरुष इसी जन्म मे भगवत् की कृपा से परित्याग करते हैं तिस से हे अर्जुन तुम बुद्धियोग रूप निष्काम कर्म करो जिससे योगकर्म के बीच मे कौशल कहे चातुर्य्य है अर्थात् सकल कर्म बन्धन होने के कारण है तौ भी ईश्वर की आराधना से मुक्ति प्राप्ति करना चातुर्य है इसी को योग कहते सो बुद्धियोगयुक्त तुम होउ ॥५०॥ सुख दुख आदि से समता युक्त भी भये और सुकृत दुःकृत कर्म के फल को परित्याग किये भी अर्थात निःकाम कर्म किये से भी फेरि मोक्ष कैसे होगी इस शङ्का पर कर्म को मोक्षकी साधनता है यह कहते कि कर्म के फल की अभिलाष छोड़ करि के केवल

मोहकलिलंबुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदागन्तासिनिर्वेदंश्रोतव्यस्यश्रुतस्यच॥ ५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्नातेयदास्थास्यतिनिश्चला। समाधावचलाबुद्धिस्तदायोगमवाप्स्यसि॥
५३॥ अर्ज्जुनउवाच। स्थितप्रज्ञस्यकाभाषासमाधिस्थस्यकेशव। स्थितधीःकिं
प्रभाषेतकिमासीतव्रजेतकिम्॥ ५४॥ श्रीभगवानुवाच। प्रजहातियदाकामान्सर्वान्

भाषा अनुवाद

ईश्वराराधनार्थ कर्म करते हुये बुद्धिमान मनुष्य ज्ञानी होकै जन्मरूप बन्धन से छूटि करि सकल उपद्रव से रहित जो विष्णुपद जिस को मोक्ष कहते तिस को सहज मे पावते हैं॥५१॥ जो कहो कि कब हम उस विष्णुपद को पावेंगे तो दो श्लोक से कहते हैं कि मोह जो देहादिक मे आत्मबुद्धि अर्थात् आत्मा स्वरूप जो कुछ है सो देह है ऐसा जो दृढ़ विश्वास सोई दुरवगाह अज्ञान गहन वन है सो जब इस पूर्व्व कथितरूप परमेश्वर की आराधना करने से भगवत की कृपा से तुमारी बुद्धि देह अभिमानरूप मोहमय अगम्य कानन कहे वन के पार अच्छी तरह से होगी अर्थात् देहाभिमान छूटैगा तब विष्णुपदरूप मुक्ति प्राप्ति होगी और जो अर्थ सुना चाहते हो और सुनि चुके हो तिस सब अर्थ मे वैराग्य उत्पन्न होगी अर्थात् वह सब तुच्छ कहे किसी कामका नहीं यह जानि सकोगे फेरि और उस बात को न पूछोगे॥ ५२॥ इसी प्रकार लौकिक कहे लोक की वार्त्ता औ वैदिक कहे वेद की बातैं अनेक प्रकार की श्रवण करते करते पूर्व्व से विक्षिप्त कहे भ्रमित जो तुमारी बुद्धि सो जब समाधि मे स्थिर होगी अर्थात् अच्छीतरह लगाया जाय चित जिससे सो समाधि कहे परमेश्वर तिस ईश्वरमे और और विषयों को छोड़ि अभ्यास करते करते निपुण होय जब अचल रूप से स्थिर होगी तब तुम योग का फल जो तत्त्वज्ञान सो पावोगे॥५३॥ पूर्व श्लोक मे कहा जो आत्मतत्त्वज्ञानी का लक्षण उस के जानने की इच्छा करि अर्ज्जुन पूछते हैं कि हे केशव अनायासलब्ध समाधि मे स्थित जो निश्चल बुद्धि स्थित प्रज्ञ पुरुष उस का क्या लक्षण है अर्थात् कैसे उस को जानैं तात्पर्य्य यह है कि कैसे लक्षण होने से किस आचरण से स्थिरप्रज्ञ होता है सोई पूछते हैं कि ज्ञानी कैसे बोलते बैठते और कैसे चलते फिरते रहते हैं॥५४॥ श्रीभगवान बोले कि हे अर्ज्जुन सुनो जिनको साधक लोग ज्ञान साधन के निमित्त

पार्थमनोगतान् आत्मन्येवात्मनातुष्टःस्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥ दुःखेष्वनुद्विग्न
मनाःसुखेषुविगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधःस्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥ यः
सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्यशुभाशुभम् । नाभिनन्दतिनद्वेष्टितस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥ ५७॥
यदासंहरतेचायंकूर्मोऽङ्गानीवसर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥

भाषा अनुवाद

यत्नपूर्वक साधना करते हैं वेई सिद्ध के स्वाभाविक कहे स्वभावसिद्ध लक्षण हैं इस से अब सिद्ध के लक्षण कहने के अनन्तर ज्ञान के साधन अध्याय की समाप्ति पर्यन्त कहते हैं तिनमें से प्रथम दो स्लोकसे पहिली प्रश्न का उत्तर करते हैं कि हे अर्जुन मुनिजन मनोगत सकल कामना जब अच्छीतरह से त्याग करते हैं कि अपने परम आनन्दरूप आत्मा में जो रमै सो आत्माराम अर्थात् आप आपने आत्म सुख में सन्तुष्ट होते हैं तिस से जब क्षुद्र विषय अभिलाष की छोड़ते हैं तब उसी लक्षण से मुनिजन स्थितप्रज्ञ कहे जाते हैं ॥५५॥ अब लक्षण कहने के बहाने से जिज्ञासु अर्जुन को और जो करना चाहिये सो उपदेश करते हैं कि जिन का मन दुख पड़ने से उद्विग्न अर्थात् घबड़ाय नहीं और सकल सुख की स्पृहा कहे इच्छा न करैं सुख दुख में समान रहैं सो वीतराग अर्थात् विषय प्रीति रहित एवं भय औ क्रोधशून्य स्थितप्रज्ञ कहे स्थिरबुद्धि मुनि कहावते हैं ॥ ५६॥ अर्ज्जुन ने पूछा था कि तत्त्वज्ञानी किस प्रकार से बात कहते हैं उस प्रश्न का उत्तर भगवान कहते हैं कि समस्त पुत्र मित्र धन धाम आदिक से जिस को स्नेह कहे प्रीति नहीं है और शुभ प्राप्ति होने से सुखी औ अशुभ लाभ होने से दुखित भी न होय है अर्थात् स्तुति औ निन्दा में रागद्वेष कहे प्रीति विरोध हीन है केवल उदास के समान अर्थात् उदासीन ऐसे हो बात करते हैं उनो की प्रज्ञा प्रतिष्ठित हैं वेई स्थिरबुद्धि मुनि हैं ॥ ५७ ॥ जिज्ञासु को और क्या करना योग्य हैं सो सूचन करावते कहते हैं कि और पूर्व कथित योगी जब इन्द्रियार्थ जो नानाप्रकार के विषय तिन से सर्व इन्द्रियों को अनायास कहे सहजमें लौटारै अर्थात् फेर लेय इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे कूर्म कहे कछुआ अपने सुख कर चरण अनायास समेटि लेता है तैसे ही योगी विषयों से इन्द्रियों को जब बटोर ले सकै तब उस ज्ञानी की बुद्धि स्थिर है ॥

५८ ॥ विषयाविनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्यपरंदृष्ट्वानिव-
र्त्तते ॥ ५६ ॥ यततोह्यपिकौन्तेयपुरुषस्यविपश्चितः। इन्द्रियाणिप्रमाथीनिहर-
न्तिप्रसभंमनः ॥ ६० ॥ तानिसर्व्वाणिसंयम्ययुक्तआसीतमत्परः। वशेहियस्येन्द्रि-
याणितस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥६१॥ ध्यायतोविषयान्पुंसःसङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्

भाषा अनुवाद

५८ ॥ जो कहो कि इन्द्रियों की विषय मे अप्रवृत्ति होना यह स्थित प्रज्ञ का लक्षण न हो सकेगा क्यों कि जड़ आतुर औ उपवास करनेवाले मनुष्यों की इन्द्री भी विषय मे नहीं प्रवृत्त होती हैं तो इन से औ ज्ञानी से फेरि क्या विशेष कहे अन्तर है इन को भी स्थिर बुद्धि मुनि कहना उचित है तिस पर कहते हैं कि यहां आहार न करने से निराहार पुरुष को यद्यपि विषयों का इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं होता सत्य है पर तौ भी उस की विषयों से अभिलाषा नहीं जाती अर्थात् विषय की वासना मन मे बनी रहती है और स्थित प्रज्ञ पुरुष के परमात्म दर्शन हेतु से विषय की लालसा निवृत्त हो जाती अर्थात् अच्छी तरह से अभिलाष सहित विषयवासना नाश होती है और जड़ आतुर जैसे विषयोंके अज्ञ हैं तैसे आत्मा को भी नहीं जानते तो वे स्थिर बुद्धि कैसे हो सकते हैं और रस कहे राग जो प्रीति सो स्थित प्रज्ञ पुरुष की आप से आप निवृत्त होती हैं ॥ ५६ ॥ इन्द्रियों का संयम किये विना अर्थात् विषयों से रोकने के विना स्थित प्रज्ञा कहे परमात्मा मे अचल बुद्धि होती नहीं इस से प्रथम साधन की अवस्था मे इन्द्रियों को स्वाधीन करने के अर्थ बड़ा यत्न करना चाहिये यह कहते हैं कि हे कौन्तेय कुन्तीनन्दन अर्जुन मोक्ष के हेतु प्रयत्न करते हुये विवेकी विचारवान ज्ञानी पुरुष के भी मन को ये प्रबल प्रमाथी कहे क्षोभकरनेवाली इन्द्री हरण कर लेती हैं ॥ ६० ॥ इन्द्रियों को स्वाधीन करना यह कहि करि फेरि क्या करना उचित है सो कहते हैं कि तो सब इन्द्रियों का संयम करि के युक्त योगी मेरे मे तत्पर हो रहे अर्थात् आत्मामे निष्ठा करिके बैठ रहें यह कहि कर ज्ञानी कैसे स्थिति करते इस प्रश्न का उत्तर दिया अर्थात् जिस के इन्द्रियगण वश है उस की प्रज्ञा कहे बुद्धि प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिर है ॥ ६१ ॥ बाह्यइन्द्रिय कहे बाहर की इन्द्रियों के वश न रहने

संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥ क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्
स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥ रागद्वेष-
विमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

भाषा अनुवाद

मे जो दोष सो देखाय अब अवशीभूत जो मन तिस का दोष देखावते हैं कि बुद्धि के द्वारा रूपादिक विषयों को ध्यान करते हुये पुरुष का मन उन विषयों में आसक्त होता अर्थात् विषय सङ्ग होता है और सङ्ग से अधिक अधिक कामना उत्पन्न होती हैं फेरि जो कामना किसी प्रकार से नष्ट होय तो क्रोध प्रगट होता है अर्थात् काम से क्रोध प्रगट होय है ॥ ६२ ॥ और क्रोध मोह का हेतु है इस को दृढ़ करते हैं कि क्रोध से अर्थात् उस के द्वारा मोह होता है अर्थात् काज अकाज का विचार नहीं रहता फेरि संमोह होने से शास्त्र औ आचार्य्य तथा गुरु का दिया जो उपदेश कहे शिक्षा अर्थ सो विचलित अर्थात् भूल जाय है और स्मृति भ्रंश होने से कहे उपदेश भूल जाने से बुद्धि की चेतनाशक्ति चली जाती है अर्थात् बुद्धि नष्ट होती है बुद्धि नाश होने से जड के समान होय फेरि वह मनुष्य मुर्दे को तुल्य हो कर नष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥ जो कहो कि चिरकालसे विषय मे निमग्न स्वभाव कहे विषय मे आसक्त इन्द्रियगण का विषयसे रोकना जो असाध्य अति कठिन हैं तो पूर्व उक्त दोष निवारण कैसे हो सकैगा इस से स्थित प्रज्ञा होना भी असम्भव कहे अति दुर्घट है इस शङ्का पर कहते हैं कि राग कहे प्रीति औ द्वेष जो विरोध तिन से रहित होके अर्थात् इन को छोड के औ अभिमान त्याग करि के सब इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करने से भी शान्ति प्राप्ति होती है तो राग द्वेष रहित कैसे होय सो कहते हैं कि मन के आधीन कहे वशीभूत सब इन्द्रिय हैं और इन्द्रिय वशकारी मन को जो मनुष्य अपने वश कर राखै है उस के फेरि और राग द्वेषादिक रहते नहीं इस कहने से अर्जुन को चौथो प्रश्न जो है कि स्थितप्रज्ञ कैसे गमन करै है उस का उत्तर दिया कि स्वाधीन इन्द्रियगण राखि कै विषयों मे गमन करै अर्थात् इन्द्रीजित् हो विषय भोग करै जिस हेतु आत्मवश इन्द्रिय द्वारा विषय भोग करता हुया आत्मा

प्रसादेसर्व्वदुःखानांहानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसोह्याशुबुद्धिःपर्य्यवतिष्ठते॥
६५॥ नास्तिबुद्धिरयुक्तस्यनचायुक्तस्यभावना। नचाभावयतःशान्तिरशान्तस्यकुतः
सुखम्॥ ६६॥ इन्द्रियाणांहिचरतांयन्मनोऽनुविधीयते। यदस्यहरतिप्रज्ञांवायु-
र्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥ तस्माद्यस्यमहाबाहोनिगृहीतानिसर्व्वशः। इन्द्रियाणी

भाषा अनुवाद

सुखी रहता हैं॥ ६४॥ इस प्रकार शान्ति प्राप्त होने पर फिरि क्या होता है सो कहते हैं कि शान्ति लाभ होने से सब दुख नाश हो जाते हैं फेरि इस शान्त चित्त पुरुष के सुन्दर बुद्धि स्थिर होती है॥ ६५॥ इन्द्रियों का निग्रह कहे कावूरखना जो स्थितप्रज्ञ पुरुष का साधन सो विपरीत कहे उलटी रीति से कहते हैं कि अवशीकृत इन्द्रिय मनुष्य के शास्त्र औ आचार्य्य के उपदेश से आत्मज्ञान होने के योग्य बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है तो स्थित प्रज्ञ होना दूरवात हैं इहां भावना का अर्थ ध्यान है सो ध्यान के द्वारा बुद्धि आत्मा मे प्रतिष्ठित कहे स्थित होती है परन्तु जो इन्द्रियगण वश न करि सकै उस को यह ध्यान कहां है इसीसे वह आत्मा के ध्यान का अनधिकारी है तो फिरि उसको शान्ति नहीं होती अर्थात् आत्मा मे चित्त युक्त नहीं होता और अशान्त पुरुष को सुख कहे परम आनन्द कहां से हो सकेगा॥ ६६॥ इन्द्री वश किये विना तत्त्वज्ञान नहीं होता इस का कारण कहते हैं कि अवशीकृत इन्द्रिय विषयाधीन भोगी पुरुष को इन्द्रियों के बीच जब एक इन्द्री के साथ मन धावता है अर्थात् उस के आधीन हो विषय पर चला तो फिर वह मन पुरुष की बुद्धि हरि कै उस को विषय मे विक्षिप्त करता है तब सब इन्द्री इकट्ठे हो प्रज्ञा को हरण करती हैं तो और क्या कहैं फेरि वायु जैसे जल मे नाव को इधर उधर नचावती है तैसे ही यह मन इन्द्रियों के साथ विक्षिप्त हो जहां तहां मारामारा भ्रमता फिरता इस पुरुष को खराव करता है॥ ६७॥ इन्द्रियों का संयम करना स्थिरप्रज्ञ पुरुष का साधन औ यही उस का लक्षण है यह जो पूर्व कहि चुके सोई अब फेरि कहते है कि हे महावाहो अर्ज्जुन जो इस सब इन्द्रियो को विषयों से शान्त राखि सकै उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है महाबाहु सम्बोधन देने से यह जनाया कि तुम वैरियों के निग्रह करने मे समर्थ हो इस से

न्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥ यानिशासर्व्वभूतानांतस्यांजागर्त्तिसंयमी । यस्यांजाग्रतिभूतानिसानिशापश्यतोमुनेः ॥ ६९ ॥ आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठंसमुद्र-

भाषा अनुवाद

अवश्य इन्द्रियोंको वश करि सकोगे क्यों कि ये इन्द्री पुरुष को परम शत्रु हैं शत्रु को जय करने विना बडी हानि है यह इसका भावार्थ है ॥६८॥ जो सन्देह करो कि निद्रागत कहे सोये हुये मनुष्य के समान देखना सुनना बोलना चलना यह अरस परस करना आदि इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित कहे इन्द्रीजित तो कोई भी पुरुष इस संसारमे नहीं देख पडता है तो स्थित प्रज्ञ का लक्षण जो कहा सो असम्भव अर्थात् कोई भी स्थिरबुद्धि नहीं हैं इस पर श्रीभगवान कहते हैं कि अज्ञानरूप अन्धकार से आवृत कहे घेरे हुये सकल मनुष्यों को आत्मनिष्ठा कहे आत्मज्ञान तत्त्वज्ञानरूप विषय मे दर्शन आदि कोई व्यापार न रहने से जन्तुओं की जो निशा कहे रात्रि अर्थात् दर्शनादि व्यापार शून्य अवस्था है तद्रूप आत्मनिष्ठा कहे तत्त्वज्ञान अवस्था रात्रि है जिस मे विषयी विचारों को कुछ नहीं सूझता है सोये हुये पुरुष के समान शिथिल पडे हैं कोई इन्द्रीभी कुछ काममे नहीं आती हैं यह आत्मनिष्ठारूप निशा तुम सब जीवों की जानो इस से संयमी कहे इन्द्रीजित जागते हैं अर्थात् तत्त्व-ज्ञान का अनुभव करते औ स्व स्व रूप को देखते आनन्द पावते हैं और जो विषय निष्ठा कहे विषयों का ज्ञान जिस मे सब प्राणी जागते अर्थात् विषयी जन विषयों मे बोधयुक्त होय दर्शनादि व्यापार करते हुये स्वप्न की ऐसी सम्पदा मे गमन हैं सोई अवस्था मुनि जो तत्त्वज्ञानी हैं उन को रात्रि तुल्य हैं अर्थात् इस विषय मोह रूप रात्रि मे उन को कुछ नही सूझता है सोये हुये नर के समान अचेत हैं अर्थात् ब्रह्म मे दृष्टि है और विषयों को देखते नहीं सोई कहा कि जो निशा सब भूत कहे प्राणियों की है उस मे मुनि जन जागते और जो ज्ञानियों की रात्रि उस मे प्राणी सब जागते हैं जैसे उलूआपक्षी और चमगादुर छुछुन्दर आदि जीव और जीवों की जो रात्रि वह इनका दिन हैं अपना सब व्यापार उस मे करते खुसी से रात भर घूमते हैं तैसे ही जानो ॥६९॥ जो कहो कि विषय मे दृष्टि विना भये फेरि वे ज्ञानी विषय भोग कैसे करते हैं इस आशय मे भगवान कहते हैं कि

मापःप्रविशन्तियद्वत् । यद्वत्कामायंप्रविशन्तिसर्व्वेसशान्तिमाप्नोतिनकामकामी । ७० ॥ विहायकामान्यःसर्व्वान्पुमांश्चरतिनिस्पृहः । निर्म्ममोनिरहङ्कारःस शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥ एषाब्राह्मीस्थितिःपार्थनैनांप्राप्यविमुह्यति । स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपिब्रह्मनिर्वाणमिच्छति ॥ ७२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भाषा अनुवाद

जैसे नद नदी नारीं के जल प्रवाहके जोर से अचल समुद्र मे जाय प्रवेश करते पर समुद्र को इच्छा यही है तैसे ही विषय सब अदृष्ट कहे पूर्व्व कर्म्म के अनुसार इस संसारमे भोग इच्छा हीन मुनिके अन्तःकरणमे अदृष्टके जोरसे कर्म के द्वारा विषय प्रवेश करते हैं परन्तु तिनके द्वारा ही विषत भोग करते हुये भी वे कैवल्य मुक्ति पावते हैं और कामके कामी भोग कामना शील कहे विषय स्वभाव वे नहीं होते हैं ॥७०॥ जब ऐसी व्यवस्था है तो जो प्राप्त विषय को त्याग करते या अनादर से ग्रहण करते हैं और अप्राप्तमे इच्छा रहित कहे किसीकी अभिलाषा नहीं रखते इससे उनके अहङ्कार नहीं है इसी से भोग अभोग साधन मे ममता स्नेहशून्य हो कर आत्मामे दृष्टि राखि अदृष्ट वशते विषयों का भोग करते हैं और कही भी जांय पर शान्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् जो सब कामना छोड़ि वेपरवाह अहं ममता हीन पुरुष भोग करै या कहीं जांय पर शान्ति तो पावते हीं हैं ॥ ७१ ॥ पूर्वको कही हुई ज्ञाननिष्ठाकी प्रशंसा करिके कहते हैं कि हे अर्ज्जुन उक्त ब्रह्मज्ञान की निष्ठा ऐसी है इस से भगवत के आराधन से शुद्धचित्त पुरुष यह ब्रह्मनिष्ठा पाय करि और संसार सागर मे मूढ़ नही होता है देखो मरती वार भी एक क्षण भर जो ब्रह्मनिष्ठा मे मन स्थिर करते वे ब्रह्ममे लीन होते हैं तो बालपनमे या बहुत दिनोंसे इस ब्रह्मनिष्ठा की अभ्यास से इस मे मन स्थिर करि अन्त मे मुक्ति मिलैगी इस मे फिरि कुछ सन्देह बाकी है सो हे पार्थ यह ब्राह्मी स्थिति है इस को प्राप्त होय फेरि मोह नहीं पावते अन्तकाल मे भी इस मे क्षणभर मन स्थिर करि के मनुष्य निश्चय ब्रह्म निर्वाणपद पावते हैं ॥७२॥ इति श्रीजगन्नाथशुक्ल विरचितायां मनभावनीटीकायां श्रीकृष्णसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

तृतीय अध्यायः।

अर्ज्जुन उवाच। ज्यायसीचेत्कर्म्मणिस्तेमताबुद्धिर्ज्जनार्दन। तत्किंकर्म्मणिघोरेमां नियोजयसिकेशव॥१॥ व्यामिश्रेणेववाक्येनबुद्धिंमोहयसीवमे। तदेकंवदनिश्चित्ययेन

भाषा अनुवाद

गीताशास्त्र मे प्रथम प्रवृत्ति औ निवृत्ति की हेतुरूप सांख्य तथा योग ये दो प्रकार की बुद्धि देखावते हुये श्रीजगदीश्वरने अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् इत्यादि श्लोक से पहिले मुक्तिसाधनके विषयमे देह औ आत्माका भेद कहा तिस के अनन्तर एषा तेऽभिहिता सांख्ये इत्यादि श्लोक के द्वारा निष्काम कर्म्म करने को कहा परन्तु तिस से कौन पक्ष मुख्य कहे श्रेष्ठ औ कौन गौण कहे साधारण है यह कुछ भाव कहे भगवत की अभिप्राय न जानी गई और तिस के बीच मे ज्ञानी पुरुष को कर्म्म रहित होना तथा इन्द्रो वश करना औ निरहङ्कार रहना कहि कर एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ इस श्लोक से प्रशंसा पूर्व्वक भगवत की कहावत से तत्त्वज्ञान औ निष्काम कर्मयोगरूप भक्तियोग इन दोनो के मध्य मे ज्ञान ही को श्रेष्ठता भगवान को अभिमत है यह जानि कर अर्ज्जुन कहते हैं कि हे केशव जो निष्काम कर्म्म योग रूप भक्तियोग की अपेक्षा शीघ्र मुक्ति का देनहार तत्त्वज्ञान ही श्रेष्ठ आप को अभिमत है तो फेरि किस वास्ते तस्माद्युध्यस्व तस्मादुत्तिष्ठ ये बातें कहि कहि कर हे जनार्दन घोर हिंसा रूप कर्म मे हमै प्रवृत्त करते हो जनार्दन सम्बोधन देनेसे यह आया कि जन कहे भक्तजन जो मै तिस को अर्दन कहे पीड़ा देने वाले काहेको होते हो यह अर्ज्जुन का तात्पर्य्य है॥१॥ हे अनघ निःपाप अर्ज्जुन मै यह बात पूर्व्व कहि चुका हूं तहां जो मोक्ष के हेतु रूप ज्ञान तथा कर्म्म ये दोनो

श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥ श्रीभगवानुवाच । लोकेऽस्मिन्द्विविधानिष्ठापुराप्रोक्तामया

भाषा अनुवाद

निष्ठा मैं पृथक् पृथक् कहे अलग अलग जो कहे होता या अभी जो तुम से कहा इसी मे पृथक करि कहा होता तो अलबत्ता दोनो के बीच जो उचित हो सो निश्चय कर कहो यह तुमारा कहना ठीक था परन्तु मैं ने तो ऐसा नहीं कहा केवल दोनो हों पक्ष से एक ब्रह्मनिष्ठा ही को कहा क्योंकि गौण और मुख्यफल दायक ये कर्मयोग औ ज्ञानयोग से भिन्न भिन्न ऐसी एक ज्ञाननिष्ठा ही मैंने कहा सो भी अधिकारी के भेद से कि जैसा अधिकारी हो वैसा आचरण करै और दोनो निष्ठा का अधिकारी एक ही पुरुष कैसे होगा जो तुम कहते हो कि दोनो मे एक निश्चय कर कहो सो शुद्ध अन्तःकरण औ अशुद्ध अन्तःकरण होने से अधिकारी दो प्रकार के हैं इससे दो मत कहे गये हैं सोई दो प्रकार ब्रह्मनिष्ठा जो मोक्षप्राप्ति की उपाय सो पूर्व अध्याय मे मैने स्पष्ट कर के कहा हैं अब उक्त दोनो मत का निर्णय करते हैं कि सांख्य कहे शुद्ध अन्तःकरण ज्ञानमार्ग मे आरूढ़ पुरुष को ज्ञान परिपाक रूप कारण से ज्ञानयोग के द्वारा आत्मा की निश्चय करनेवाली ध्यान आदि निष्ठा और धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते इत्यादि श्लोकों से भगवान कर्म को प्रधान कहा है इसी शङ्का पर अर्जुन कहते हैं कि कहीं तो कर्म की प्रशंसा और कहीं ज्ञान की बड़ाई करते हुये आप की सन्देह के उत्पन्न करनेवाली इन बातों से मेरी बुद्धि को मोहसा करते हुये यह आप क्या कहते हो यद्यपि परम करुणामय जो आप तिन के मोह कहां है तौ भी भ्रान्ति से हम को मोह की ऐसी बातै समझ पडती हैं सो ज्ञान औ कर्म दोनो के बीच मे जो कल्याणकारी होय वही एक पक्ष निश्चय कर के हम को कहो अथवा जो हमारा कल्याण इस युद्ध कर्म ही से निश्चय किये हो तो इसी को निर्धार करिके ठीक कहो ॥ २ ॥ अर्जुन की प्रश्न के अनुरूप उत्तर करते हुये श्रीभगवान कहते हैं कि इस लोक मे शास्त्र के अर्थ अनुसार चलनेवाले ब्राह्मण क्षत्री वैश्य इन तीनि वर्णों के अर्थ दो प्रकार की निष्ठा पूर्व हो अर्थात् सृष्टि के प्रथम ही उन का श्रेयसाधन कहे मुक्तिका देनहार वेदार्थ सम्प्रदाय प्रगट करते हुये मैने इस रूपसे ब्रह्मपरता कही

नघ। ज्ञानयोगेनसांख्यानांकर्मयोगेनयोगिनाम्॥ ३॥ नकर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यंपुरुषोऽश्नुते। नचसंन्यसनादेवसिद्धिंसमधिगच्छति॥ ४॥ नहिकश्चित्क्षणमपिजातुतिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्य्यतेह्यवशःकर्मसर्वःप्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥ कर्मेन्द्रियाणि

भाषा अनुवाद

है। यथा तानिसर्व्वाणिसंयम्ययुक्तआसीतमत्परः इस श्लोक से और जो ज्ञानमार्ग मे नहीं प्राप्त हैं उन लोगों को चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानमार्ग पर आरूढ़ होने के अर्थ उस की उपाय रूप कर्मयोग के अधिकारियों को कर्मयोग से निष्ठा अर्थात् ब्रह्मपरता कही गई है यथा धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते इत्यादि श्लोकों से कहा है अतएव चित्त शुद्धि अशुद्धि दो अवस्था भेदसे दो प्रकार ब्रह्मपरता कथित भई है पर तौ भी तुम से प्रकाश करि कहे खुलासा से मैंने कहि दिया है कि एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु इस श्लोक से फिर भी तुम सन्देह करते हो॥ ३॥ इस से यह आया कि सम्पूर्ण चित्तशुद्धि के द्वारा जब तक ज्ञान उत्पन्न न होय तब तक वर्ण कहे जाति औ आश्रम कहे ब्रह्मचर्य्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ संन्यास इन मे विहित जो जो कर्म्म सो सब करना उचित है नहीं तो चित्त शुद्धि के विना ज्ञान कैसे हो सके गा यही भगवान कहते हैं कि कर्म किये विना पुरुष नैष्कर्म्य जो तत्त्वज्ञान सो नहीं पावते हैं जो कहो कि संन्यासी फेरि सर्व कर्म परित्याग करि तत्त्वज्ञान कैसे पावते हैं और वेद की श्रुति कहती है कि संन्यास धारण करने हीं से मुक्ति मिलती है फेरि कर्म्म करने से क्या प्रयोजन है इस शङ्का पर कहते हैं कि सो नहीं क्यों कि निष्काम कर्म्म करि चित्त शुद्धि किये विना ज्ञान का अभाव हैं औ ज्ञान के विना मुक्ति प्राप्ति नहीं होती यह निश्चय है कुछ संन्यास ही लेने से पुरुष सिद्धि को नहीं पाय जाता है॥ ४॥ कर्म्म संन्यास इस का यह अर्थ है कि सर्व्व कर्म मे आसक्ति रहित होना मात्र न कि एकाएक सब कर्मों का त्याग करना और शरीर रहते कर्म्म का त्याग भी असाध्य है सोई कहते हैं कदाचित कहे किसी अवस्था मे भी क्या ज्ञानी और क्या अज्ञानी क्षणमात्र भी मानसिक वाचिक कायिक कर्म किये विना रह नहीं सकता है कारण यह कि प्रकृति जो स्वभाव तिस के प्रभाव से राग द्वेष कहे प्रीति विरोध आदि गुणों मे सब

संयम्यय आस्ते मनसास्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मामिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥ यस्त्विन्द्रियाणिमनसानियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैःकर्मयोगमसक्तःसविशिष्यते ॥ ७ ॥ नियतंकुरुकर्मत्वंकर्मज्यायोह्यकर्मणः। शरीरयात्रापिचतेनप्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्रलोकोऽयंकर्मबन्धनः। तदर्थंकर्मकौन्तेयमुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥ सहयज्ञाःप्रजाःसृष्ट्वापुरोवाचप्रजापतिः। अनेनप्रसविष्यध्वमेष

भाषा अनुवाद

मनुष्य परतन्त्र कहे परवश हो कर्म करते ही हैं ॥ ५ ॥ इसी से अज्ञान कर्म त्यागी की निन्दा करते हैं कि जो आत्मस्वरूप को स्थिर न करि के वाक पाणि पाद आदि कर्म इन्द्रियों को वशीभूत अर्थात् काबू करि भगवत के ध्यान के बहाने से मन की अशुद्धता के कारण से इन्द्रियगण का अर्थरूप विषयों का स्मरण मन से करता है सोई मूढ़ मिथ्याचारी अर्थात् नास्तिक कहावता है ॥ ६ ॥ अब इस के विपरीत कहे उलटा कहते अर्थात् कर्मकारी पुरुष को श्रेष्ठ कहते हैं कि जो फल की अभिलाष रहित मनुष्य चक्षु श्रोत्र घ्राण आदि ज्ञान इन्द्रियों को मन के द्वारा वशीभूत करि के अर्थात् ईश्वर मे तत्पर होय सकल कर्म मे अपने को अन्तर्यामी भगवान के आधीन जानि के कर्मरूप योग आरम्भ करते हैं वेई फलाभिलाष रहित चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानवान होते हैं और कर्म दोष रहित हो मुक्तिलाभ करते हैं ॥ ७ ॥ जिस हेतु ऐसी व्यवस्था है इस से तुम कर्म करो सोई कहते हैं कि नियत कहे नित्य कर्म सन्ध्या उपासन आदि कर्म अनुष्ठान करो जिस लिये कर्म न करने से कर्मकरना ही भला है नहीं तो सब कर्म छोड़ने से एकबारगी कर्मशून्य अचेतन की भांति रहनेसे तुमारी शरीरयात्रा भी कैसे करनिवहैगी अर्थात् न चलैगी ॥ ८ ॥ सांख्य मतवाले कहते हैं कि बन्धन के कारणभूत कर्म हैं इस से सम्पूर्ण कर्म न करनाहीं भला है उसी को निर्णय करिके भगवान कहते हैं कि यज्ञ शब्दका अर्थ विष्णु है यह श्रुतियोंमे कहा है सो यज्ञरूप जो विष्णु भगवान तिन के आराधनार्थ जो कर्म तिस को छोड़ि करि के और सब कर्म अलबता लोगों को संसार बन्धन करते हैं परन्तु ईश्वर आराधन रूप कर्म तैसे नहीं है इससे विष्णु प्रीत्यर्थ निष्काम मानस होय सब कर्म अच्छी तरह से करो क्या डर है ॥ ९ ॥ ब्रह्म

वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥ देवान्भावयतानेनतेदेवाभावयन्तुवः । परस्परंभाव
यन्तःश्रेयःपरमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥ इष्टान्भोगान्हिवोदेवादास्यन्तेयज्ञभाविताः । तैर्द-
त्तानप्रदायैभ्योयोभुंक्तेस्तेनएवसः ॥१२ ॥ यज्ञशिष्टाशिनःसन्तोमुच्यन्तेसर्व्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जतेतेत्वघंपापायेपचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥ अन्नाद्भवन्तिभूतानिपर्ज्जन्यादन्न-

भाषा अनुवाद

की वाक्य से भी कर्म की कर्त्तव्यता हो श्रेष्ठ आवती है सोई चारि श्लोक से कहते हैं कि यज्ञ के साथ सहयज्ञ अर्थात् यज्ञ के अधिकारी ब्राह्मण आदि सब प्रजा को सृष्टि के आदि मे उत्पन्न करने के बादि ब्रह्मा ने यही बात कही थी कि इसी यज्ञ के द्वारा तुमारी वृद्धि होय इहां प्रसव शब्दका अर्थ वृद्धि है अर्थात् उत्तर वृद्धि होती जाय कारण यह कि यज्ञ तुमारी इष्ट कामना की दाता है इस जगह यज्ञ शब्द नित्य कर्म का उपलक्षण है अर्थात् यज्ञ कहने से नित्य कर्म भी सब आवते हैं और यहां काम्य कर्म की प्रशंसा करना असङ्गत भी है तौ भी स्वाभाविक कोई कर्म न करने से काम्य कर्म करना हीं उत्तम है इसी से कहा कि उसमे कोई दोष नहीं हैं ॥ १० ॥ यज्ञ इष्ट कामना की दाता कैसे होगी सो कहते हैं इसी यज्ञ के द्वारा तुम सब देवतावों को घृत आहुति दे कर बढ़ावो और वे देवता सब भी तुमारी वृद्धि करैं अर्थात् जल बरसाय अन्न उपजाय तुम को सन्तुष्ट करैं इसी तरह तुमारा दोनो का परस्पर कहे एक से एकका अभीष्ट अर्थ सिद्ध होय ॥ ११ ॥ इस को अच्छी तरह विचार करि के कहते हैं कि कर्म न करने से दोष होता है देखो यज्ञ से सन्तुष्ट देवता जल वृष्टि करि के तुम सब के अर्थ अन्न आदि नाना प्रकार के भोग देयंगे तो जो पञ्च यज्ञ के द्वारा देवदत्त अन्न की वस्तु उन को न दे कर आप ही भोग करि लेय सो चोर औ कृतघ्न है यह तुम जानो ॥ १२ ॥ इस हेतु से यज्ञ करने वाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं और जो देव अतिथि अग्नि गोग्रास बलि वैस्वदेव ये पञ्च यज्ञ नहीं करते केवल अपने वास्ते पाक कर के खाते हैं वेई लोभी पापाचारी हैं सोई भगवान कहते हैं कि जो देवतादिकों को देकर आप भोजन करते हैं उनको पञ्चसूनाका पाप नहीं लगता है सूना कहे हत्या के स्थान गृहस्थों के घर मे रोज रोज हत्या होने की पांच जगह हैं घर झारते चुल्हेमे आग बारते

सम्भवः। यज्ञाद्भवतिपर्य्यन्योयज्ञःकर्मसमुद्भवः॥ १४॥ कर्मब्रह्मोद्भवंविद्धिब्रह्मा-
चरसमुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतंब्रह्मनित्यंयज्ञेप्रतिष्ठितम्॥ १५॥ एवंप्रवर्त्तितंचक्रं
नानुवर्त्तयतीहयः। अघायुरिन्द्रियारामोमोघंपार्थसजीवति॥ १६॥ यस्त्वात्म-

भाषा अनुवाद

जलके पाव से और उखलमे कूटते तथा चक्की पीसते समय अनेक जीवहिंसा होती हैं सो पाप पंच यज्ञ करनेवाले को लगते हैं और वे स्वर्गवास नहीं पावते॥१३॥ संसार चक्र मे प्रवृत्त होने का हेतु जो कर्म सो कर्त्तव्य है यह तीन श्लोक से कहते हैं कि अन्न हीं उदर मे जाय कर रस रूप हो शुक्र कहे बीज औ शोणित कहे रुधिर होता है जिस से भूत कहे प्राणी उत्पन्न होते हैं और सो अन्न मेघ बरसने से होता है और मेघ यज्ञधूम से होते और वह यज्ञ फेरि यज्ञ करने वालों के व्यापार से पूरी होती है यही बात श्रुति कहती हैं कि अग्नि मे दी हुई आहुति सूर्य्य लोक मे रहती इसो हेतु सूर्य्य से वृष्टि होती औ वृष्टि से अन्न होता फेरि उस अन्न से सब प्रजा जन्म लेती हैं॥ १४॥ ऐसे अपूर्व हेतुवों से कर्म की श्रेष्ठता औ कर्त्तव्यता किस लिये कहा औ कर्म क्या वस्तु है सोई विवरण करते हैं कि यज्ञ कारी पुरुषों का व्यापाररूप जो कर्म सो ब्रह्म कहे वेद से उत्पन्न भया है औ ब्रह्म जो वेद सो अक्षर जो परब्रह्म तिससे प्रगट भया हैं यह तुम जानो और श्रुतिने भी कहा हैं कि परब्रह्म को निःश्वास से ऋक् यजुर और सामवेद प्रगटे हैं इस से सर्व्व व्यापी परब्रह्म सर्वदा यज्ञ मे प्रतीत हैं अर्थात् यज्ञ रूप उपाय से ब्रह्म प्राप्ति होती है जैसे उद्योग करने से लक्ष्मी का लाभ होता है अथवा जगत मे मूल कर्म हैं इस से मन्त्र और अर्थके द्वारा सब मनुष्यों मे प्राप्त अनादि काल से स्थित जो वेद ब्रह्म सो तात्पर्य्य के द्वारा प्रतिष्ठित है इस से यज्ञादि कर्म अवश्य कर्त्तव्य हैं॥१५॥ जिस हेतु ईश्वर की प्रेरणा से मनुष्य सकल पुरुषार्थ सिद्ध होने के अर्थ इस संसार चक्र मे आय उक्त कर्मरूप चक्र मे प्रवृत्त हैं इस से कर्म न करने से मनुष्य जन्म हीं व्यर्थ हैं यह कहते हैं कि ईश्वर की आज्ञा रूप वेद से पुरुष यज्ञ कर्म मे प्रवृत्त होते तिस से मेघ और मेघ से अन्न अन्नसे प्राणी और प्राणियों फेरि कर्म की प्रवृत्ति होती यही चक्र है अतएव जो ईश्वर साधन कर्म नहीं करते केवल इन्द्रियों

तिरेवस्यादात्मतृप्तश्चमानवः । आत्मन्येवचसन्तुष्टस्तस्यकार्य्यंनविद्यते ॥ १७ ॥ नैव
तस्यकृतेनार्थोनाकृतेनेहकश्चन । नचास्यसर्वभूतेषुकश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥ तस्मा-
दसक्तःसततंकार्य्यंकर्मसमाचर । असक्तोह्याचरन्कर्मपरमाप्नोतिपूरुषः ॥ १९ ॥

भाषा अनुवाद

से विषय मात्र भोग करते उन का वृथा जीवन है ॥ १६ ॥ कर्मणामनारम्भा-दित्यादि श्लोक से अज्ञानी पुरुषके अन्तःकरण शुद्धि के हेतु कर्म योग कहि कर अब ज्ञानी को कर्म न करना दो श्लोक से कहते हैं कि जिस की आत्मा मे रति कहे प्रीति औ आत्म आनन्दमें मगन तथा आत्मासे जो सन्तुष्ट हैं और भोगादिसे रहित हैं अैसे जो तत्त्वज्ञानी उन को कोइ कर्म भी करना नहीं है ॥ १७ ॥ जो तत्त्व ज्ञानी कहे आत्मज्ञानी पुरुष हैं उसको कोईभी कर्म करना जरूर नहीं सोई कहते हैं कि न ज्ञानी को कर्मकरने से पुण्य है और कर्म न करने से प्रत्यवाय कहे पाप भी नहीं है क्यों कि ज्ञानी तो निरहङ्कार है इस से उस को किसी कर्म का विधि औ निषेध नहीं है वह सव से अलग है जो कहो कि श्रुति कहती है कि देवतों को इच्छा नहीं है कि मनुष्य ब्रह्म को जानै औ ब्रह्मज्ञानी हो मोक्ष को पावै तो निश्चय है कि मोक्ष होने मे देवता विघ्न करैंगे इसवास्ते विघ्न वारण के अर्थ देवतों की सेवारूप कर्म जरूर ही करना पडैगा इसपर भगवान कहते हैं कि ब्रह्म से लेकर और स्थावर पर्य्यन्त किसी की सहायता ज्ञानी को दरकार नहीं हैं क्यों कि ज्ञानमार्ग मे विघ्न का अभाव है यह श्रुति से कहि चुके हैं इस से आत्मदर्शी को प्राणी मात्र की आश्रय कहे अवलम्ब लेने का कुछ काम नहीं है ॥१८॥ इस से हे अर्जुन ज्ञानीपुरुषही को कर्म कर्त्तव्य नहीं हैं और दूसरे मनुष्य को तो कर्म करना ही उचित है सो तुम कर्म करो यही कहते हैं कि तस्मात् कहे तिस से असक्त हो कर्त्तव्य कर्म निरन्तर समाचार कहे करो असक्त हो पुरुष कर्म करते हुये पर जो मुक्ति उस को प्राप्त होते हैं अर्थात फल कामना रहित हो कर अवश्य कर्म जो नित्य नैमित्तिक हैं सो सब करो जिस हेतु आसक्ति रहित कर्मकारी मनुष्य परम जो मुक्ति उस को चित्तशुद्धि के द्वारा पावता है । नित्यकर्म सन्ध्यावन्दनादिक हैं और नैमित्तिक जो निमित्त पाय कर किये जांय जैसे पुत्त्र जन्म मे जातकर्मादिक

कर्मणैवहिसंसिद्धिमास्थिताजनकादयः। लोकसंग्रहमेवापिसंपश्यन्कर्तुमर्हसि॥
२०॥ यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः। सयत्प्रमाणंकुरुतेलोकस्तदनुवर्त्तते
॥२१॥ नमेपार्थास्तिकर्त्तव्यंत्रिषुलोकेषुकिञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यंवर्त्तएवच
कर्म्मणि॥२२॥ यदिह्यहंनवर्त्तेयंजातुकर्म्मण्यतन्द्रितः। ममवर्त्मानुवर्त्तन्तेमनुष्याः
पार्थसर्व्वशः॥२३॥ उत्सीदेयुरिमेलोकानकुर्य्यांकर्म्मचेदहम्। सङ्करस्यचकर्त्तास्या

भाषा अनुवाद

कियेजाते हैं इस से यह जनाया कि तुमको युद्ध की नैमित्तिक कर्म करना आवश्यक है ॥१९॥ अब इस विषय मे ज्ञानियों के आचरण को प्रमाण देते हैं कि देखो परम ज्ञानी जनक राजा मर्म के आचरण करने से शुद्धसत्व हो कर अच्छी तरह ज्ञान को प्राप्त भये थे और जो तुम सम्पूर्ण ज्ञानी अपने को जानो तौ भी कर्म्म करना ही श्रेय कहे कल्याण है यह कहते हैं कि सब मनुष्यों को धर्म्म मे प्रवृत्ति के अर्थ अर्थात् हमारे कर्म करने से सब लोग कर्म्म करेङ्गे नहीं तो ज्ञानी का व्यवहार देखि अज्ञानी लोग भी व्यवहार छोड़ि बैठेङ्गे इस हेतु लोक की रक्षा के अर्थ कर्म करना अवश्य प्रयोजन है यह विचारि कर्म्म करना योग्य है सो तुम भूल के भी कर्म न त्याग करना ॥२०॥ और तुमारे कर्म्म करने से सब लोगों की कर्म मे रुचि होयगी यह भगवान कहते हैं कि श्रेष्ठ कहे बड़े लोग निवृत्ति या प्रवृत्ति कर्म जो प्रमाण जानते और करते हैं सोई साधारण मनुष्य भी आचरण करते हैं अर्थात् उन के अनुसार सब व्यवहार के अनुगामी होते हैं ॥२१॥ इस विषय मे भगवान अपने को दृष्टान्त दे कर कहते हैं कि हे पार्थ अर्जुन देखो त्रैलोक्य मे भी हम को कर्त्तव्य कर्म्म कुछ नहीं हैं तौ भी हम कर्म कर्त्ता ही रहते हैं और हम को त्रिभुवन मे भी अलभ्य तथा किसी वस्तु मे अभिलाष नहीं है॥२२॥ तौ फिरि जो हम कर्म्म न करैं तो कर्म्म न करने से जो लोगों की हानि होयगी सोई देखावते कि जो सावधान हो कर्म्म मे हम कभी न वर्त्तमान होंय तो सब लोग हमारी ही राह लेंय अर्थात् हमारी नाईं कर्मों को न करैं॥२३॥ तौ उस न करने मे जो होगा सो कहते हैं कि जो हम कर्म्म न करैं तो धर्म्म लोप हो जाय औ धर्म्म लोप से प्रजा नष्ट होयगी और बेमर्याद हो राह छोड़ जो जिस के मन

मुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥ सक्ताः कर्मण्यविद्वांसोयथाकुर्व्वन्तिभारत । कुर्य्या
द्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥ नबुद्धिभेदंजनयेदज्ञानांकर्मसङ्गिनाम् ।
योजयेत्सर्व्वकर्माणिविद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥ प्रकृतेः क्रियमाणानिगुणैः कर्माणि
सर्व्वशः । अहङ्कारविमूढात्माकर्त्ताहमितिमन्यते ॥ २७ ॥ तत्त्ववित्तुमहाबाहो

भाषा अनुवाद

मानै सोई करै तो संसार मे दुराचार से वर्णशङ्कर जन्मैङ्गे फेरि इस अनुचित के कर्त्ता भी हमी ठहरे अपनी प्रजा आपही नष्ट किया यही होगा ॥ २४ ॥ इस वास्ते आत्मज्ञानी को भी लोगों पर कृपा करि शिक्षा देने के अर्थ कर्म करना चाहिये इसी को कहते हैं कि हे भारत अर्ज्जुन कर्म मे आसक्त हो कर जैसे अज्ञानी लोग कर्म करते हैं तैसे लोगों के उपदेश की इच्छा करि के विद्वान कहे ज्ञानी भी कर्म करै तो धर्म की मार्ग बनी रहैगी ॥ २५ ॥ तो फेरि सब को तत्त्व ज्ञान ही का उपदेश करना चाहिये जो ऐसा कहो सो नहीं यह कहते हैं कि अज्ञ जो कर्म मे आसक्त हैं तिन को आत्म उपदेश दे कर बुद्धि का भेद उत्पन्न कभी न करै अर्थात् कर्म से उन को न छुडावै बलके उन से और भी कर्म करावै तो फेर उन से किस तरह कर्म करावै सो कहते हैं कि आप सावधान हो कर्म का आचरण करता उन से करवावै नही तो उन की बुद्धि चल विचल करावने से फेरि कर्म से उन की श्रद्धा चली जायगी और जो ज्ञान की भी उत्पत्ति न भई तो उन की दोनो राह नष्ट भई विचारे अज्ञानी उधर के भी न भये और इधर से भी गये यही होगा ॥ २६ ॥ जो कहो कि इस प्रकार जो ज्ञानी कर्म करै तो अज्ञानी औ ज्ञानी के वीच क्या विशेष कहे अन्तर रहा इसी अभिप्राय पर दो श्लोकसे दोनो का अन्तर दिखावते हैं कि देखो मूढ़लोग प्रकृति जो माया सो इन्द्रियों के द्वारा जो सब कर्म करती है उन कर्मो को हम करते हैं ऐसा मानि लेते हैं तो मानि लेने का कारण यह है कि अहङ्कार से इन्द्रियों मे आत्मा का अध्यास अर्थात् इन्द्रियों को आत्मा जानि कर उन की बुद्धि मूढ हो गई है ॥ २७ ॥ और ज्ञानी ऐसा नहीं मानते हैं सोई कहते कि तत्त्वज्ञानी तो हम इन्द्रियरूप नहीं हैं ऐसे विचार करि इन्द्रियों से आत्मा को जुदा जानते हैं और हमारे कोई भी कर्म

गुणकर्म्मविभागयोः। गुणागुणेषुवर्त्तन्तइतिमत्वानसज्जते॥ २८॥ प्रकृतेर्गुणसं मूढ़ाःसज्यन्तेगुणकर्म्मसु। तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्नविचालयेत्॥ २९॥ मयिसर्व्वाणिकर्म्माणिसंन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममोभूत्वायुध्यस्वविगतज्वरः ॥ ३०॥ येमेमतमिदंनित्यमनुतिष्ठन्तिमानवाः। श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तोमुच्यन्ते

भाषा अनुवाद

नहीं हैं ऐसे विचार से कर्मों से अपने को पृथक मानते हैं अर्थात् इस प्रकार इन्द्री औ कर्म से पृथक् बुद्धि हो कर जो तत्त्व वस्तु सो जानते हैं हे अर्जुन वे और फेरि कर्म्म मे आसक्त नहीं होते अर्थात् हम कर्म करते हैं यह विचार नहीं करते इस का हेतु यह कि माया के द्वारा सब इन्द्री विषयों मे प्रवृत्त हैं हम सब से अलग हैं यह उन का जाना है॥ २८॥ सो कहते हैं कि प्रकृति जो माया तिस के गुण जो सत्त्व रज तम तिन से सम्यक् मूढ़ कहे मोह को प्राप्त जो जन हैं तेई लोग गुणो के कर्म मे अर्थात् सात्त्विक राजस तामस त्रिगुण कर्म मे आसक्त होय कर्म का सङ्ग करते हैं तिन असम्पूर्ण ज्ञानी मन्दमति मनुष्यों को उस कर्म के आनन्द से गमन मन कर्म करने से कृष्णवित कहे असम्पूर्ण ज्ञानी सो न चलावे अर्थात् उन को कर्म रहित न करै॥ २९॥ सो देखो तत्त्वज्ञानी को भी कर्म करना उचित है फेरि भगवान कहते हैं कि तुम तो अभी ऐसे कुछ तत्त्व ज्ञानी भये भो नहीं हो इस से अच्छी तरह कर्म करो कर्म करने मे तो तुमारा अधिकार ही है यह भगवान कहते हैं कि आत्मा मे चित्त देके सब कर्म हमारे के अर्पण कर के अर्थात् हम अन्तर्य्यामी भगवान के आधीन होय कर्म करते हैं और यह हमारा काम है हम करते हैं इस विचार औ फल की आश को छोड़ कर तथा शोक दूर करि के तुम वे खट के युद्ध करो यह श्रीकृष्ण ने कहा॥ ३०॥ इस प्रकार कर्म करने मे उपकार कहते हैं कि जो इस हमारे मत मे श्रद्धा युक्त होय और असूया रहित अर्थात् निन्दा न करि के कि दुखदाई कर्म मे हम को प्रवृत्त करते अर्थात् लगावते हैं ऐसो दोष दृष्टि न कर के जो कोई यह मेरा मत अङ्गीकार कर के करैगा सो कर्म के द्वारा क्रम क्रम से ज्ञानी की तरह कर्म से मुक्त होय पर होयगा॥ ३१॥ अब इस के विपरीत आचरण मे जो दोष

तेऽपिकर्मभिः ॥ ३१ ॥ येत्वेतदभ्यसूयन्तोनानुतिष्ठन्तिमेमतम्। सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धिनष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥ सदृशंचेष्टतेस्वस्याःप्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिंयान्तिभूतानिनिग्रहःकिंकरिष्यति ॥ ३३ ॥ इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थेरागद्वेषौव्यवस्थि

भाषा अनुवाद

सो कहते हैं कि जो लोग इस तरह कर्म न करैं तो विचार रहित हैं और कर्म तथा ब्रह्मज्ञानमे भ्रष्टविवेक जानो सोई कहते हैं कि जो इस मेरे मत की निन्दा करते हुये इस मत मे नहीं प्रवृत्त होते हैं उन को सकल ज्ञान के मूढ़ात्मा कहे नष्ट बुद्धि जानो ॥ ३२ ॥ जो कहो कि तो फेरि महा फल के अर्थ इन्द्रियों को निग्रह कर और कामना को त्यागि के सभी लोग क्यों नहीं इस तरह स्वधर्म का अनुष्ठान करते हैं तो इस पर कहते हैं कि पूर्व कर्म के संस्कार के अधीन जो स्वभाव तिस के अनुसार गुण दोष के ज्ञानवान भी चेष्टा करते हैं तो फेर अज्ञ विचारे जो स्वभाव तिस के अनुरूप चेष्टा करते इस मे और क्या करना है जब कि स्वभाव बलवान है तब कि और इन्द्रिय निग्रह कोई फेर कर सकै है तो स्वभाव के अनुरूप चलना हीं पड़ता है ॥३३॥ जो बलवान स्वभावही के अनुसार कर्म मे सब की प्रवृत्ति है तो यह कर्म करना औ यह न करना जो शास्त्र विधि औ निषेध करता सो व्यर्थ है इस शङ्का पर कहते हैं कि इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य दुइबार कहने से हर एक इन्द्रिय को अपनी अपनी विषय के अनुकूल वस्तु मे प्रीति औ प्रतिकूल विषय मे वैरक्ति कहे विरक्तारूप राग द्वेषादि अवश्य होगा सो इसी से राग द्वेष के अनुरूप कर्म मे प्रवृत्ति होना यह यद्यपि सब को स्वभाव सिद्ध हैं पर तो भी राग द्वेष के वशीभूत होना न चाहिये यही शास्त्रों मे नियम कर राखा है क्यों कि मुमुक्षु पुरुष के वेई विघ्नकारी औ विपक्ष हैं तात्पर्य्य यह कि विषयों के स्मरण के द्वारा राग द्वेष प्रगट करवाय वह स्वभाव असावधान पुरुषों को अपने बल से अति जोर धारा प्रवाह की नाईं अनर्थ मे प्रवृत्त करावता है परन्तु शास्त्र तो उस अनर्थ प्रवृत्ति के पहिले ही विषयों मे राग द्वेष का प्रतिबन्धक रूप कहे रोकनेवाला जो भगवत आराधन तिस मे प्रवृत्ति करावते हैं इस से देखो कि प्रवाह मे परने के पूर्व ही नौका प्राप्त पुरुष के समान उस अनर्थ से शास्त्र द्वारा मनुष्य बचि जाते हैं

तौ। तयोर्नवशमागच्छेत्तौह्यस्यपरिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥ श्रेयान्स्वधर्मोविगुणःपर-
धर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मेनिधनंश्रेयःपरधर्मोभयावहः ॥ ३५ ॥ अर्जुन उवाच।
अथकेनप्रयुक्तोऽयंपापञ्चरतिपूरुषः। अनिच्छन्नपिवार्ष्णेयबलादिवनियोजितः ॥ ३६॥
श्रीभगवानुवाच। कामएषक्रोधएषरजोगुणसमुद्भवः। महाशनोमहापाप्माविद्धे

भाषा अनुवाद

इससे स्वाभाविक प्राप्तकर्म त्याग कर के धर्म प्रवृत्त होना अवश्य कर्त्तव्य है तात्पर्य्य मे यह कि तुम स्वभाव प्राप्त करुणा को छोड़ि अव युद्ध करो ॥ ३४ ॥ स्वाभाविक प्रवृत्ति त्याग करि धर्म मे प्रवृत्त होना अवश्य कर्त्तव्य हैं किन्तु निज धर्म दुःखदायक युद्ध रूप के करने के असमर्थ औ परधर्म शुभ करने वाला अहिंसा रूप ये दोनो भी धर्म पक्षमे समान है तो इन दोनो के मध्यम पर धर्म हीं मे प्रवृत्त होने की इच्छा करते हुये अर्ज्जुन के प्रति भगवान कहते हैं कि साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण किये हुये परधर्म की अपेक्षा अङ्ग हीन होने से भी स्वधर्म श्रेय कहे सुन्दर है अर्थात् स्वधर्म्म युद्ध आदि मे प्रवृत्त पुरुष का मरण भी श्रेय कहे श्रेष्ठ लाभ है क्यों कि उस से स्वर्गादि प्राप्त होता है परन्तु परधर्म भयदायक अर्थात् निषिद्ध है इस से नरक प्राप्ति का कारण होता है सोई कहा कि स्वधर्मे निधनं श्रेयो परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥ तयो र्न वशमागच्छेत् इस श्लोक से कहा कि राग द्वेष के वश न होना फेरि विरोध हेतुक युद्ध को स्वधर्म कहि कर आज्ञा देते हैं इस पर अर्ज्जुन कहते है कि वृष्णि वंश मे अवतीर्ण हे वार्ष्णेय हे कृष्ण अनर्थरूप पाप करने मे इच्छा न रहते भी किसी की प्रेरणा से यह पुरुष पाप आचरण करता है काम क्रोध को विचार बलसे रोंक के भी मनुष्य की पापकर्म करने मे फेरि प्रवृत्ति देख पड़ती है इस से यह जानि पड़े हैं कि कोई उसका मूल भूत कारण होगा जो बल कर के कराबता हैं इस सम्भावना पर सन्देह करते हुये अर्ज्जुन ने प्रश्न किया है ॥ ३६ ॥ अर्ज्जुन ने जो पूछा कि इच्छा विना भी किसी की प्रेरणा से पुरुष पापाचार मे प्रवृत्त होता हैं इसी का उत्तर भगवान करते हैं कि सब को अपने वश करनेवाला औ प्राणियों का परम शत्रु सकल अनर्थ प्राप्तिकारी यह काम जो कामना सोई किसी कारण से प्रतिहत भया अर्थात् कामना जो सिद्ध न भई तो

नमिहवैरिणम्॥३७॥ धूमेनाव्रियतेवह्निर्यथादर्शोमलेनच। यथोल्बेनावृतोगर्भस्तथाते
नेदमावृतम्॥३८॥ आवृतंज्ञानमेतेनज्ञानिनोनित्यवैरिणा। कामरूपेणकौन्तेयदुष्पूरे-
णानलेनच॥ ३९ ॥ इन्द्रियाणिमनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष

भाषा अनुवाद

वही काम बदल कर रजोगुण से है जन्म जिस का ऐसा क्रोध रूप होय पुरुष को अहङ्कार के वश कराय रजो गुण की सेवा मे डाल देता है वह क्रोध फेरि महाशन है अर्थात् महत भोजन है जिस का सो ऐसा महापापमा कहे पाप रूप परम शत्रु है यह तुम जानो तात्पर्य्य यह है कि काम ही जीवों को प्रेरणा देता हैं परन्तु सतो गुण की वृद्धि होने से रजोगुण की जय होती है फेरि रजोगुण का कार्य्य काम कहे कामना का जन्म नहीं होता है सो इस मोक्ष मार्ग के वैरी काम रूप शत्रु को पूर्व्व कथित उपाय से नाश करना ही उचित हैं देखो कामना के अनुरूप भोग मिलने से भी उन का भोग चिरकाल करते भी सन्तोष नहीं होता है इसी से कहा कि महदशन कहे बड़ा खानेवाला जो काम सो भोग करने से भी पूर्ण नहीं होता है॥३७॥ अब विशेष रूप मे काम की शत्रुता देखावते हुये कहते हैं कि जैसे धूम से आग औ मल से दर्पण उल्बा जो झिल्ली चमड़ा तिस से गर्भ आवृत कहे लपेटे हैं तैसे ही काम जो कामना तिस से यह ज्ञान भी आवृत कहे घेरा भया है॥३८॥ फेरि भी काम का वैरित्व प्रकाश करते हैं कि विवेक ज्ञान इस काम से आवृत होता है यद्यपि अज्ञानी मनुष्य को यह काम भोग समय मे सुख का हेतु है पर तौ भी शेष मे वैरभाव प्रगट करता है इसो से ज्ञानी लोगों को भोग काल मे भी अनर्थ हो जानि पड़ता है क्यों कि यह काम दुख का कारण है हे कौन्तेय अर्जुन देखो यह काम अनेक दिन विषय भोग करते भी सन्तोष नहीं पावता दिन दिन और और इच्छा बढ़ती ही जाती है जैसे आग इन्धन पाय अधिक अधिक बढ़ती है और सन्तुष्ट नहीं होती है और जो कदाचित विषय भोग न मिला अथवा असार्थ्य से भोग ही न कर सके तो शोक सन्ताप होता है इस से आखिर मे तो दुख छोड़ सुख का लेश भी नहीं है॥३९॥ अब काम के रहने की जगह और इस के जय करने की उपाय दो श्लोक से कहते हैं कि विषयों का

ज्ञानमावृत्यदेहिनम्॥४०॥ तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौनियम्यभरतर्षभ। पाप्मानंप्रजहि ह्येनंज्ञानविज्ञाननाशनम्॥४१॥ इन्द्रियाणिपराण्याहुरिन्द्रियेभ्यःपरंमनः। मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेर्यःपरतस्तुसः॥४२॥ एवंबुद्धेःपरंबुद्ध्वासंस्तभ्यात्मानमात्मना। जहिशत्रुंमहाबाहोकामरूपंदुरासदम्॥४३॥ इति कर्मयोगोनाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

भाषा अनुवाद

इन्द्रियों के द्वारा भोग होता है और मन से सङ्कल्प रूप विषय वासना मानसिक कर्म तथा बुद्धि से निश्चय होना अर्थात् यह काम अवश्य करैंङ्गे इन सब बातों से जाना गया कि मन बुद्धि औ इन्द्री ये कामना के आधार स्थान हैं अर्थात् उत्पत्ति औ रहने की जगह है सोई काम विवेक ज्ञान को आच्छादन कहे घेरि कर देही जो आत्मा उस को मोह युक्त कर देता है॥ ४० ॥ तिस कारण से मोह होने के प्रथम हीं ये सब इन्द्री औ मन तथा बुद्धि को नियम्य कहे काबू कर के या रोक कर इस पाप रूप काम को हे भरतर्षभ अर्ज्जुन अच्छी तरह नाश करो अथवा त्याग करो क्यों कि यह काम आत्मज्ञान और शास्त्रोक्त जो विज्ञान तिन दोनो का नाशक है॥ ४१ ॥ अब जिस से मनुष्य चित्त को सावधान करि आत्मा मे लगाय इन्द्रियों को वश करने सकै सोई आत्मा का स्वरूप देहादि से भिन्न देखावते हैं कि देह आदि वाह्य कहे वाहर के स्थूल पदार्थों से इन्द्री सूक्ष्म और पर हैं अर्थात् श्रेष्ठ हैं और इन्द्रियों से भी सङ्कल्पात्मक मन इन्द्रियों को विषयों मे प्रवृत्ति करावनेवाला पर है अर्थात् सूक्ष्म औ श्रेष्ठ है अथवा इन्द्रियों से भिन्न जानो और मन की अपेक्षा निश्चय शक्ति रूप बुद्धि श्रेष्ठ है या भिन्न है क्यों कि मन के सङ्कल्प को यह बुद्धि रोंक सकती हैं और जो बुद्धि से भी परे अर्थात् श्रेष्ठ किम्बा पृथक् और साक्षी रूप हो सब के अन्तर मे टिका है सो आत्मा हैं तिस को यह दुष्ट काम मोहयुक्त करता हैं॥ ४२ ॥ अब कहते हैं कि विषय औ इन्द्रियों से काम आदि विकारयुक्त बुद्धि ही होती है और आत्मा निर्व्विकार बुद्धि का साक्षीरूप और उस से पृथक् है इस से आत्मा को श्रेष्ठ जानि और ऐसी निश्चय रूप बुद्धि से मन को निश्चल कर के हे महाबाहो दुख का दरवाजा निवारण करने के योग्य इस कामरूपी दुष्ट दुर्ज्जय शत्रु को जीतो॥ ४३ ॥ इति तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

चतुर्थ अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। इमंविवस्वतेयोगंप्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वानमनवेप्राहमनु-
रिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥ एवंपरम्पराप्राप्तमिमंराजर्षयोविदुः। सकालेनेहमहता
योगोनष्टःपरन्तप॥ २॥ सएवायंमयातेऽद्ययोगःप्रोक्तःपुरातनः। भक्तोऽसीसे

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण भगवान आप ही अपना आविर्भाव कहे प्रगट होना और तिरोभाव कहे परमधाम का जाना तिस के प्रकाश करने के निमित्त सामवेद के अन्तर्गत जो ब्रह्म प्रतिपादक तत्त्वमसि महावाक्य है तिसके तत्पद औ त्वम्पद के विचार करनेके अर्थ कर्मयोग की प्रशंसा करते गीताशास्त्र की अभिप्राय जो प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण ज्ञानयोग औ कर्म्मयोग सो दो अध्याय से कहि चुके यह मानते हुये अब वंश के कथन से उस कर्म्मयोग की स्तुति करते हैं कि यही कर्मयोग मैने पूर्व्वकाल मे सूर्य्य के प्रति से कहा था और सूर्य्य ने अपने पुत्र श्राद्ध देव मनु से कहा औ मनु ने फेरि अपने पुत्र इक्ष्वाकु राजा से कहा था ऐसे हो परम्परा वह कर्मयोग चला आता था ॥ १ ॥ इसी प्रकार इस कर्मयोग को परम्परा प्राप्त कहे एक से दूसरा दूसरे से तीसरा ऐसे राजऋषि लोग जानते चले आते थे पर अब हे परन्तप शत्रुतापन अर्जुन वह कर्मयोग बहुत काल पाय कर नष्ट हो गया है ॥ २ ॥ सोई कर्मयोग जो परम्परा सम्प्रदाय से संसार मे न रहा तिस को अब फेरि हम ने तुम से कहा क्यों कि तुम हमारे भक्त और मित्र भी हो नहीं तो मैने फेर और किसी से इस को नहीं कहा और न कोई मेरा भक्त छोड़ इस के कहने के योग्य हैं॥ ३॥ जब

सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३॥ अर्ज्जुन उवाच। अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४॥ श्रीभगवानुवाच। बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्ज्जुन। नान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥ अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६॥

भाषा अनुवाद

भगवानने ऐसे कहा कि प्रथम हम ने सूर्य्य से यही कर्मयोग कहा था तब तो अर्ज्जुन सन्देह युक्त होय पूछा कि हे महाराज अपर कहे इस समय मे तो आप का जन्म भया है और पर कहे पूर्व काल मे विवस्वान जो सूर्य्य तिन का जन्म भया था इस से नवीन जो आप सो प्राचीन सूर्य्यके प्रति कर्मयोग जो कहा यह हम किसतरहसे जानैं कि तुम ने सूर्य्य से प्रथम कहा था यह हमै असम्भव सा जानि पड़ै है। दूसरा अर्थ या अपर कहे और भी पूर्वकालमे आपका जन्म भया था कि सूर्यही का पर कहे इस समयमे कोई जन्म और भया हैं नही तो यह आप का कहना असंभव हैं तो हम कैसे जानै कि तुमने सूर्य्य से योग प्रथम कहा है ॥४॥ तब तो श्रीभगवान बोले कि हे अर्जुन हां मैने और जन्म मे उपदेश किया था सन्देह न करो हमारे और तुमारे भी बहुत जन्म होय वीते हैं पर उन सब को हम जानते हैं और तुम नहीं जानते हो क्यों कि हमारी ज्ञान शक्ति बनी रहती है तुम अविद्या कहे अज्ञान से आवृत कहे घेरे भये हो ॥ ५ ॥ जो कहो कि अनादि जो तुम तुमारा जन्म कैसे और अविनाशी हो तुम तुमारा पुनर्जन्म हो वा कैसे सम्भव होय जो कहते हो कि बहुत जन्म हमारे व्यतीत भये हैं और फिर भी तुम ईश्वर तुमारे पुण्य औ पाप दोनो भी नहीं तो फेरि जीव की नाई तुमारा जन्म कैसे सम्भव हो सकै तिस पर कहते हैं कि हां यह बात तो ठीक है पर हम जन्म रहित और अविनाशी स्वभाव होके भी तथा ईश्वर अर्थात् कर्म्म के वश नहीं भी हैं पर तौ भी अपनी माया के द्वारा स्व इच्छा से प्रगट होते हैं और जो कहो कि तौ भी पञ्च ज्ञान इन्द्री औ पञ्च कर्म्म इन्द्री पञ्च प्राण और एक अन्तःकरण ये सोरह कलारूप लिङ्ग शरीर के विना किस तरह जन्म होना सम्भवै है इस पर भगवान कहते हैं कि हम अपनी शुद्धसत्त्वात्मक प्रकृति को स्वीकार करिके अति जाज्वल्यमान

यदायदाहिधर्मस्यग्लानिर्भवतिभारत। अभ्युत्थानमधर्मस्यतदात्मानंसृजाम्यहम्॥
७॥ परित्राणायसाधूनांविनाशायचदुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थायसम्भवामियुगे
युगे॥ ८॥ जन्मकर्मचमेदिव्यमेवंयोवेत्तितत्त्वतः। त्यक्त्वादेहंपुनर्जन्मनैतिमा-
मेतिसोऽर्जुन॥ ६॥ वीतरागभयक्रोधामन्मयामामुपाश्रिताः। बहवोज्ञानतप

भाषा अनुवाद

सत्वमूर्त्तिसे स्वेच्छाधीन अवतार लेते हैं॥६॥ तो अपनी इच्छा से कब आप जन्म ग्रहण करते हो इस अपेक्षा पर भगवान कहते हैं कि हे भारत भरतवंशी अर्जुन जब जब धर्म्म की ग्लानी अर्थात् हानि होती हैं और अधर्म्म का अभ्युत्थान कहे वृद्धि होती तब तब हम शरीर धारण करते हैं॥ ७॥ जो कहो कि ऐसे समय मे आप क्यों शरीर धारण कर अवतरते हो तो कहते हैं कि साधु कहे स्वधर्म के करनेवाले लोग उन को रक्षा और दुःकृत कहे अधर्मी पापी जनों के नाश के हेतु मै जन्म लेता हूं इस से यह आया कि धर्म का स्थापन औ साधु का रक्षण दुष्टों का बध करि के धर्म को वृद्धि करने को सोई सोई समय मे मै शरीर ग्रहण करता हूं वही कहा कि सम्भवामि युगे युगे जो कोई शङ्का करै कि दुष्ट नाश करने से भग-वान को निर्दयता आवती है तो ऐसा कभी कहना नहीं देखो माता पिता गुरु ये जो पुत्र शिष्य को शिक्षा के लिये ताडन करते हैं तो क्या निर्दई हैं ऐसे ही ईश्वर गुण दोष नियम के अर्थ दण्ड देते हैं किन्तु शत्रुता से नहीं॥८॥ अब अपने जन्म कर्म जानने का फल कहते हैं कि हमारे स्वेच्छा से दिव्य कहे अलौकिक आश्चर्यरूप जो जो जन्म औ कर्म केवल लोक के अनुग्रहार्थ हैं तिन के तत्त्व पूर्वक जानने से लोग देह अभिमान छाड़ि फेरि संसार मे जन्मग्रहण नही करते हैं बल्कि हमारे ही को प्राप्त होते अर्थात् आवागमन से रहित होते हैं॥६॥ जो कहो कि ईश्वर के जन्म कर्म जानने हीं से कैसे ईश्वर प्राप्त होय है इस पर कहते हैं कि शुद्ध सतोगुण से अवतार ले हमारी जो परम दयालुता के कर्म तिन के जानने से सतो गुण के द्वारा सत्त्व वृद्धि होती है फेरि वे लोग संसार से विगत स्नेह औ गत क्रोध निर्भय होय मेरे आश्रित मद्रूप अर्थात् मत्स्वभाव बहुतेरे ज्ञान सम्पन्न परम पवित्र हो मद्भाव को प्राप्त भये अर्थात् मेरे स्वरूप मे लीन हो गये हैं॥ १०॥

साप्पूतामद्भावमागताः ॥१०॥ येयथामांप्रपद्यन्तेतांस्तथैवभजाम्यहम्। ममवर्त्मानु-
वर्त्तन्तेमनुष्याःपार्थसर्व्वशः ॥११॥ काङ्क्षन्तःकर्म्मणांसिद्धिंयजन्तइहदेवताः। क्षिप्रं
हिमानुषेलोकेसिद्धिर्भवतिकर्म्मजा ॥ १२ ॥ चातुर्व्वर्ण्यंमयासृष्टंगुणकर्म्मविभागशः।

भाषा अनुवाद

तो तुमारे भी क्या विपरीत भाव कहे स्वपर बुद्धि है जिस हेतु शरणागत को कृपा करि आत्म स्वभाव देते और दूसरे को नहीं देते हो इस का सिद्धान्त कहते हैं कि हे पार्थ अर्जुन जो मनुष्य जब जिस प्रकार अर्थात् सकाम या निष्काम रूप हमको भजते सेवते हैं उन को वैसे ही फल प्रदान करि के मै भी अनुग्रह करता हूं और कामना कर के जो लोग इन्द्र आदि देवतों का भजन पूजन करते हैं उन का अनादर या त्याग हम नहीं करते है कारण यह कि जिस किसी की पूजा भजन करै वह मेरी ही पूजा होती हैं क्यों कि सर्व्व रूपमय मै हीं हूं सो हे पार्थ मेरी ही राह मे सब मनुष्य वर्त्तमान है पर जैसी जिस की भावना तैसा तिस को फल मिलता है इस से सकाम लोगों को कर्मानुसार फल लाभ देखाया और निष्काम पुरुष तो मेरा रूप ही है ॥११॥ जो ऐसा कहो कि तो फिरि मोक्ष ही के वास्ते सब लोग भगवत का आराधन क्यों नहीं करते हैं इस पर कहते हैं कि मनुष्य लोक के बहुतेरे लोग कर्म्मफल की अभिलाषा करि इन्द्र आदि देवतों की सेवा करते और साक्षात् हमारी सेवा नही करते हैं क्यों कि कर्म से फल शीघ्र प्राप्त होता और मेरी साक्षात् सेवा से ज्ञान का फल रूप जो मुक्ति सो दुःप्राप है बडे कठिन से चिरकाल मे मिलती हैं ॥१२॥ और जो कहो कि चारो वर्ण के कर्त्ता भी तुमहीं हो और अनेक प्रकार के कर्म भी वेद के द्वारा तुम्ही ने कहा है फेरि उन्ही कर्मों के करनेवाले ब्राह्मण आदि वर्णो को उत्तम औ अधम कर्म्म भी तुम ने कहा है तो इस सब के करने औ कहने वाले एक तुम ठहरे फेरि किसी की प्रवृत्ति सकाम कर्म मे और किसी की निष्काम मे जो होती है तो कहो वैषम्य दोष कहे विषम स्वभाव तुमारा क्यों नहीं है इन बातो से अलबत्ते तुम को पक्षपात दोष हो सकता हैं इसके उपर भगवान कहते हैं कि हां चातुर्वर्ण्य कहे सतोगुण प्रधान जो ब्राह्मण उन के कर्म शम दम उपरति तितिक्षा समाधान श्रद्धा हैं और सत्त्व रज

तस्यकर्त्तारमपिमांविद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥ १३ ॥ नमांकर्माणिलिम्पन्तिनमेकर्मफले
स्पृहा। इतिमांयोऽभिजानातिकर्मभिर्नसबध्यते॥ १४ ॥ एवंज्ञात्वाकृतंकर्मपूर्वै-
रपिमुमुक्षुभिः। कुरुकर्मैवतस्मात्त्वंपूर्वैःपूर्वतरंकृतम्॥ १५ ॥ किंकर्मकिमकर्मेति
कवयोऽप्यत्रमोहिताः। तत्तेकर्मप्रवक्ष्यामियज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६ ॥

भाषा अनुवाद

प्रधान जो क्षत्री उन के कर्म भूमि रक्षा प्रजा पालन यज्ञआदिक हैं और रजोगुण सतोगुण प्रधान जो वैश्य तिन के कर्म व्यापार खेती आदिक हैं और तमोगुण प्रधान शूद्र का कर्म इन तीनो वर्ण की सेवा रूप है सो यह बात ठीक है पर जो भी हम इन के कर्त्ता हैं तौ भी अकर्त्ता ही जानो क्योंकि हम अव्यय हमारी आसक्ति इन कर्मो मे नही है ॥१३॥ वही कर्म की आसक्ति देखलाते हुये भगवान कहते है कि देखो विश्वसर्जन आदि कर्म हम को नहीं लगते और न कर्मफल की इच्छा हमै रहती हैं क्यों कि हम निरहङ्कार कर्म करते हैं और पूर्णकाम हैं इस से कोई विषयके श्रवण दर्शनादि से हमारी भोगमे इच्छा नहीं होती तौ ये कर्म हमैं कैसे आसक्त कर सकैं और तुम को क्या कहैं देखो जो जो मनुष्य हम को कर्म मे निर्लिप्त जानते हैं वे भी कर्मबन्धमे नही पडते कारण यह है कि जो हमारे निर्लेपताके हेतु अन अहङ्कार औ निस्पृहत्व हैं सो उन ज्ञान कार पुरुष के भी शिथिल होते कहे नाम मात्र को रह जाते हैं और कुछ काम देखने योग्य नहीं रहते हैं॥१४॥ अब ऐसे चारि श्लोक से प्रसङ्ग प्राप्त ईश्वर के वैषम्य दोष को दूर करते हुये पूर्व कथित कर्मयोग को विस्तार करि कहते हैं कि यह अहङ्कार रहित किया हुया कर्म ज्ञान का बाधक नहीं होता हैं यह जानि करि के पूर्व काल के मुमुक्षु जन जनक आदिकों ने किया था इससे तुम भी अभी इस प्रथम अवस्था मे कर्म करो जब ज्ञान अवस्था प्राप्त होगी आपनी सब कर्म छूट जांयगे अभी छोड़ने से सतोगुण की शुद्धि होना अति दुर्घट हैं देखो और और युग मे भी लोगों ने प्रथम कर्म को किया है यह कर्म युग युगान्तर से किया चला आता हैं॥१५॥ और देखो तत्त्वज्ञानी के साथ विचार करके कर्म करना चाहिये केवल भेंड़ियाधसंतकी नाईं लोक परम्परा प्राप्त देख कर करना अनुचित ही जानो यह कहते हैं कि देखो कौन कर्म कर्त्तव्य

कर्मणोह्यपिबोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहनाकर्मणोगतिः॥
१७॥ कर्मण्यकर्मयः पश्येदकर्मणि च कर्मयः। सबुद्धिमान् मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्न

भाषा अनुवाद

और कौन अकर्त्तव्य है इस कर्म्म अकर्म्म के विचार मे कवि कहे वडे वडे पण्डित भी मोहित हो जाते पता नहीं लगता हैं इससे जिस कर्म के करने से इस अशुभ संसार से मुक्त होउगे सो और अकर्म्म जो अकरणीय कर्म ये दोनो हम तुम से कहते हैं सो सावधान हो सुनो जिस को जानि करि के अशुभ संसार से छूट मुक्त हो जाउगे॥३७॥ जो कहो कि मन वचन देह के व्यापार हो तो कर्म है और देहादि व्यापार का अभाव ही अकर्म है यही तो लोक मे प्रसिद्ध है फेरि जो आप ने कहा कि पण्डित लोग भी कर्म अकर्म के विषय मे मोह को प्राप्त होते हैं सो कैसे इस वात पर कहते है कि कर्म तो शास्त्रविहित व्यापार का तत्त्व जानि कर के कर्त्तव्य है केवल लोक व्यवहार देखि अवश्य कर्त्तव्य कर्म नहीं और अकर्म तो संन्यास आश्रम अङ्गीकार करि शास्त्र की रीत से कर्मका त्याग करना पर तत्त्व ज्ञानवान हो कर उचित है और विकर्म जो निषिद्ध कर्म उसका भी तत्त्व जानना आवश्यक है क्योंकि सव कर्मो की गतिका ज्ञान होना कठिन है सोई कहा कि कर्म की गति गहन कहे वडी कठिन सहज मे जानने जोग नही हैं॥१७॥ जो कहा कि कर्मकी गति गहन कहे जानवे जोग नहीं हैं और कहा कि कर्म अकर्म निषिद्ध कर्म का तत्त्व जानि कर कर्म को करै सोई कर्मगति की कठिनाई देखावते हुये भगवान वह तत्त्व कहते हैं कि जिस के यथार्थ ज्ञानमे पण्डित भी मोहित होते औ जिस के ज्ञान से इस संसार से छूटि जाते हैं उस को मै कहता हूं तुम सुनो यह प्रतिज्ञा जो करी थी सो अव कहते हैं कि भगवत आराधन रूप कर्म जव कि किसी तरह ज्ञान होने मे वाधा नहीं करता तो वह क्या कर्म है उस को अकर्म हीं अर्थात् कर्म संन्यास ही जो देखते हैं सोई कहा कि कर्मण्य कर्म यः पश्येत् और शास्त्र विहित कर्म न करने से दोष होता हैं फेरि वहीं न करना ज्ञान का प्रतिवन्धक कहे वाधा का हेतु होता है इस से शास्त्रोक्त कर्म को न करना हीं जो अकर्म उसी को कर्त्तव्य जो देखते हैं वेई लोग कर्मकारी पुरुषों के

कर्मकृत् ॥ १८ ॥ यस्यसर्वेसमारम्भाःकामसङ्कल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुःपण्डितंबुधाः ॥ १९ ॥ त्यक्त्वाकर्मफलासङ्गंनित्यतृप्तोनिराश्रयः । कर्म

भाषा अनुवाद

मध्य मे बुद्धिमान हैं उन्हो की प्रशंसा करते हैं कि ऐसे ही कर्म अनुष्ठान करते जो ज्ञानयोग को प्राप्त होते सोई योगी पुरुष हैं और उन को भगवत आराधन रूप कर्म के अन्तर्भूत कहे अङ्गभूत समस्त कर्म करना आय गया है । वही कहा कि स युक्तः कृत्स्न कर्म कृत् । इस से यह आया कि ज्ञान-मार्ग मे जाने की इच्छा जिस को है उस को कर्मयोग अवस्था मे कर्म करना उचित है सोई ३ अध्याय के ४ श्लोक मे कहा कि न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषो श्नुते और सम्पूर्ण ज्ञान होने से फेरि कर्म का कुछ आवश्यक नहीं है सोई ३ अध्याय के १७ श्लोक मे कहा कि यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानव इति ये दोनों बातें इस श्लोक से अच्छी तरह कही गईं और जो कर्मेन्द्रियाणि संयम्य यह ३ अध्याय के ८ श्लोक मे कहा इन्द्रियों से आत्मा भिन्न है तथा कोई कर्म नहीं कर्त्ता है ऐसे जानि दृढ़ समाधि मे जो रहते हैं और अनायास कहे वे मांगे प्राप्त भये अन्न को भोजन कर लेते वे सकल कर्म करते भी योगी हैं और उन को विकर्म औ निषिद्ध कर्म मृगमांस भोजनादि दोष भी नहीं हैं क्यों कि उन्हे उस वस्तुका आग्रह नहीं है परन्तु अज्ञानी को आग्रह और उस मे रुचि है तो वेशक मृगमांस खाने से दोष है इस से निषिद्ध कर्म का तत्त्व कहा यही तत्त्व जानि सब कर्मों मे प्रवृत्त होना मैने कहा है सो जानो ॥ १८ ॥ अब कर्मण्यः पश्येत् इस श्लोक से श्रुति का तात्पर्य्य जो कहा सोई पांच श्लोक से स्पष्ट कर के कहते हैं कि जिस के सब समारम्भ कहे कर्म कामसङ्कल्प वर्ज्जित अर्थात् कामना रहित है उसी को बुध कहे बुद्धिमान लोग पण्डित कहते हैं जिस से कर्म अनुष्ठान के द्वारा शुद्ध चित होने से प्रगट हुये ज्ञान अग्नि से सकल कर्म दग्ध हो जाते हैं फेरि कर्मबन्ध उस को नहीं होता है और ज्ञानारूढ़ अवस्था मे काम का अर्थ कर्म फल और उस के अर्थ यह कर्म हम को करना उचित है परन्तु ज्ञान आरूढ़ पुरुष इन दोनो से भी रहित है सोई कहा कि जिस के सब समारम्भ कामना

ग्यभिप्रवृत्तोऽपिनैवकिञ्चित्करोतिसः ॥ २० ॥ निराशीर्यतचित्तात्मात्यक्तसर्व-
परिग्रहः। शारीरंकेवलंकर्मकुर्वन्नाप्नोतिकिल्बिषम् ॥ २१ ॥ यदृच्छालाभसन्तुष्टो
द्वन्द्वातीतोविमत्सरः ॥ समःसिद्धावसिद्धौचकृत्वापिननिबध्यते ॥ २२ ॥ गत

भाषा अनुवाद

रहित हैं सो पण्डित है ॥ १९ ॥ और सर्व कर्म तथा कर्म के फल मे आसक्ति छोड़ कर नित्य आनन्दरूप आत्मा के सन्तुष्ट मनुष्य अप्राप्त वस्तु की चेष्टा औ प्राप्त का पालन इन दोनो से दूर हैं इसी से वे कोई कर्म मे प्रवृत्त होंय पर उन का वह कर्म कर्म नहीं है अर्थात् उस के सब कर्म अकर्मता को प्राप्त हैं सोई कहते है कि कर्म के फल औ सङ्ग जो आसक्ति तिसे छोड़ि नित्य आत्मसुख से तृप्त वेपरवाह जो कर्म मे प्रवृत्त भी है पर वह कुछ भी नहीं करता है यह जानो ॥२०॥ विक्षेपकारी कर्म ही को तो शास्त्र बन्धन का हेतु कहते हैं और आपने तो कर्म की प्रसंशा करि जनकादिक को दृष्टान्त देखाय प्रथम अवस्था मे अधिकार औ ज्ञान प्राप्त भये भी निरहङ्कार कर्म करने से अदोष कहा इस से सर्वथा कर्म करना प्राप्त होता है इस सन्देह पर भगवान कहते हैं कि जो सर्व कामना परित्याग करि निष्काम हो तथा मन इन्द्री शरीर अपने वशीभूत राखि सकल विषय से निवृत्त हैं और शरीर निर्व्वाह मात्र के अर्थ कर्तृत्व अभिमान रहित होय कर्मो को करते हुये भी वे मनुष्य कर्मबन्धको नहीं प्राप्त होते हैं अर्थात् कर्मजनित किल्बिष जो पाप सो नहीं लगता हैं सोई कहा कि निराशीर्यत चितात्मा त्यक्त सर्व परिग्रहः ॥ २१ ॥ और यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट कहे मांगे विना आप से आप प्राप्त जो यथा लाभ तिस से जो सन्तुष्ट हैं अर्थात् उत्तम अधम अधिक अल्प लाभ से हर्ष विषाद रहित हैं और शीत उष्ण हानि लाभ सुख दुःख बैर प्रीति आदि द्वन्द्वभाव रहित हैं तथा सिद्धि असिद्धि मे सम भाव हैं वे पुरुष कर्म करते भी संसार गति को नहीं प्राप्त होते अर्थात् कर्म बन्धन मे नहीं पड़ते हैं सोई कहा कि यदृच्छा लाभ सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सर इति ॥२२॥ और भी कहते हैं कि गतसङ्गस्य कहे जिसका देह गेह औ विषय से सङ्ग कहे आसक्ति चली गई है औ काम क्रोध से मुक्त कहे छुट गया है और चित्त ज्ञानरूप परब्रह्म मे स्थित है ऐसे गुणों से युक्त मनुष्य के यज्ञ रक्षार्थ

सङ्गस्यमुक्तस्यज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतःकर्मसमग्रंप्रविलीयते॥ २३॥
ब्रह्मार्पणंब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौब्रह्मणाहुतम्। ब्रह्मैवतेनगन्तव्यंब्रह्मकर्मसमाधिना॥
२४॥ दैवमेवापरेयज्ञंयोगिनःपर्य्युपासते। ब्रह्माग्नावपरेयज्ञंयज्ञेनैवोप-

भाषा अनुवाद

किम्वा लोकशिक्षार्थ या शरीर यात्रार्थ अथवा भगवदाराधनार्थ किये हुये सम्पूर्ण कर्म वासना समेत विलीन हो जाते हैं॥२३॥ जो यह शङ्का करो कि धर्म्मशास्त्र तो वेदका अर्थही है और तिसमे लिखते हैं कि नाभुक्तं चीयते कर्म अर्थात् विना भोग किये कर्म चीण नही होता कर्म का फल भोगना हीं पड़ता है तो इस पर कहते है कि सम्पूर्ण क्रिया औ कारक तथा फल रूप जो कुछ द्वैत है सो सब ब्रह्म मात्र कहे ब्रह्म छोड़ और कुछ नहीं हैं ऐसे ज्ञानवान ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म रूप पुरुष के यावत् कर्म विलीन हो जाते हैं इस मे कुछ सन्देह नहीं सोई उपनिषद मे कहा है कि ब्रह्मविदो ब्रह्मैव सर्व्व क्रिया कारक फलजातं भवति। सोई कहते हैं कि ब्रह्म के अर्थ और ब्रह्म हो हवि तथा ब्रह्म रूप अग्नि से ब्रह्म हीं ने दिया है इस प्रकार जो जानता है अर्थात् होम अग्नि स्रुवा हवि कर्त्ता क्रिया घृत आदि सब सामग्री और जिस को दिया जाय यह सब जो है सो ब्रह्म व्यतिरेक और नहीं है ब्रह्मकर्म मे है समाधि कहे चित्तवृत्ति जिस की सो अवश्य ब्रह्म को प्राप्त होता है जैसे इन कर्मो की कर्म मे गिनती नहीं तैसे ही भगवत आराधन कर्म की भी कर्म मे गणना नहीं है ऐसे कर्म जो हैं सो अकर्म हीं हैं फेरि इन का फल भोगना कहां है और जो फल है तो ब्रह्म या भगवत प्राप्ति रूप ही है और दूसरा नहीं॥ २४ ॥ पूर्वोक्त प्रकार यज्ञरूप से सर्वत्र सम्पादित कहे प्रसिद्ध कर के कहा जो ब्रह्म दर्शन रूप ज्ञान सो सकल यज्ञों का हेतु कहे उसी के वास्ते सब यज्ञों की जाती हैं अतएव श्रेष्ठ हैं इसी से अब इस ज्ञान की प्रशंसा कर के अधिकारी के भेद से ज्ञान के उत्पत्ति की उपाय रूप सब यज्ञों को ८ श्लोक से कहते हैं कि बहुतेरे कर्मयोगी लोग ब्रह्मबुद्धि रहित हो इन्द्र वरुण आदि देवतों को यज्ञ करि के बड़ी श्रद्धा से पूजते हैं और कितने ज्ञान योगी ब्रह्मरूप अग्नि मे ब्रह्मयज्ञ रूप उपाय से यज्ञ आदि

जुह्वति ॥ २५ ॥ श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥ द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥ अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽ-

भाषा अनुवाद

सकल कर्म रूप ब्रह्म मे ब्रह्मार्पण विधि से अर्पण कहे सब कर्म्म लीन करते हैं सोई ब्रह्मयज्ञ हैं ॥ २५ ॥ ऐसे ही कितने ब्रह्मचारी लोग इन्द्रियों का संयम जो विषयों से रोकना सोई अग्निरूप है तिस मे श्रोत्र घ्राण जिह्वा त्वक् चक्षु इन ज्ञान इन्द्रियों को होम करते अर्थात् इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर के संयम से रहते हैं और कितने गृहस्थ जब इन्द्रिय रूप अग्नि मे हवि रूप जो विषय कहे रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द सो होम करते हैं विषय भोग समय मे भी अनासक्त हो के अग्निरूप इन्द्रियों मे रूप रस आदि विषयरूप घृत होम करते है कहे दग्ध करते निरहङ्कार हो कर फल रहित होते हैं ॥ २६ ॥ और बहुतेक ध्यानी पुरुष श्रोत्रादि ज्ञान इन्द्रियों के श्रवण आदि कर्म्म तथा वाक् आदि कर्म्म इन्द्रियों के कार्य्य वचन आदि और प्राण अपान उदान व्यान समान नाग कूर्म्म कृकल देवदत्त धनञ्जय ये शरीर की दश वायुओं के कर्म जो बहिर्गमनादि हैं सो सब आत्मसंयम योग अग्नि मे होम करते हैं अर्थात् ध्यान के द्वारा चित्त की एकाग्रता रूप ज्ञान से दीपित योग अग्नि मे होमते कहे लीन करते हैं अर्थात् धेय कहे ध्यान के विषय को ध्यान के द्वारा प्रज्ज्वलित ज्ञानदीप की प्रकाश से वही धेय कहे ध्यानयोग्य ब्रह्म को अच्छी तरह जान कर और उसी मे मन को संयम कहे युक्त करि के सकल कर्म को दूर कर देते हैं ॥ २७ ॥ और लोक मे कितने पुरुष द्रव्य दान हीं को परम यज्ञ जानि द्रव्य दानरूप यज्ञ करते और बहुतेक मनुष्य कृच्छ्र चान्द्रायण तथा द्वादश वार्षिक व्रत आदिक मे चित्त लगाय तप रूप यज्ञ करते हैं फेरि कितने जन योगशास्त्रोक्त नेती धौती भस्त्रा औ प्राणायाम आदि योग कर के चित्तवृत्ति के बोधरूप योग यज्ञ मे तत्पर हैं और बहुतेरे वेद शास्त्र के अध्ययन मनन को स्वकर्म्म जानि तदर्थ ज्ञान हीं को सर्वस्व मानि स्वाध्याय

प्राणंतथापरे । प्राणापानगतीरुद्ध्वाप्राणायामपरायणाः ॥ २६ ॥ ॥ अपरेनियता हाराःप्राणान्प्राणेषुजुह्वति । सर्व्वेऽप्येतेयज्ञविदोयज्ञक्षयितकल्मषाः ॥ ३० ॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप यज्ञ करते हैं परन्तु जो इन्द्रीजित औ व्रत मे तत्पर हैं तेई ये सब यज्ञों कर सकते हैं ॥ २८ ॥ और कितने हठ योगाभ्यासी मनुष्य अपान वायु मे प्राण वायु के पूरक प्राणायाम के द्वारा खैंचि कर होम करते हैं अर्थात् पूरक समै मे प्राण अपान एक कर देते हैं और कोई कुम्भक प्राणायाम से प्राण अपान वायु को ऊर्द्ध अधोगमन रोंक कर रेचक काल मे अपान वायु को प्राण वायु मे ऐंचि ले कर होम कहे लीन कर देते हैं ऐसे ही पूरक कुम्भक रेचक के द्वारा प्राणायाम मे तत्पर रहते हैं और कोई कोई लोग आहार घटाय इन्द्री शिथिल कर के सोई सोई इन्द्रियवृत्तिका लय रूप होम करते हैं अथवा पूरक रेचक दोनो स्वासा बन्द कर हंस और सोहं इस को अनुलोम विलोम कहे उलट पुलट रूप अजपा मन्त्र के द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य से कथित जो तत्पद औ त्वं पद तिन के अर्थ के अनुसार ब्रह्म जीव की एकता अर्थात् सो ब्रह्म हम हैं और हम सो ब्रह्म हैं ऐसो भावना करते हैं और कोई प्राणायाम हीं को यज्ञ करते अर्थात् उदर के दो भाग अन्न से पूर्ण करि औ एक भाग पानी से पूर्ण करि और वायु के संचारार्थ चतुर्थ भाग खाली राखि शास्त्रविधि के अनुसार परिमित आहारी जन कुम्भक के द्वारा प्राण अपान की गति रोध करि प्राण दमनशील हो सब इन्द्रियों को प्राण वायु मे होम करते हैं अर्थात् कुम्भक से सब प्राण एक हो जाते और इन्द्रियगण लय को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ एही पूर्व्वोक्त बारह प्रकार के यज्ञकारीयों को प्राप्य फल भगवान कहते हैं कि ऐसी यज्ञ रूप क्रिया जिन की जानी है और इन यज्ञों से जिन के पाप क्षय हो गये हैं और यज्ञ समाप्त कर के पीछे शास्त्रविहित अमृतरूप अन्न भोजन करते हैं फेर तत्त्वज्ञान के द्वारा नित्य सत्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं सो कहा कि ये सब यज्ञवित् यज्ञ से नष्ट कल्मष कहे निःपाप होय यज्ञशिष्ट अमृतभोजी सना तन ब्रह्म को जाते कहे प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥ अब यज्ञ न करने मे दोष कहते हैं कि देखो यज्ञ न करनेवालों को यह अल्प सुख जो मनुष्य लोक सोई नहीं

यज्ञशिष्टामृतभुजोयान्तिब्रह्मसनातनम्। नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यःकुरुसत्तम:
॥ ३१ ॥ एवं बहुविधायज्ञावितताब्रह्मणोमुखे। कर्म्मजान्विद्धितान्सर्व्वानेवं
ज्ञात्वाविमोक्ष्यसे॥ ३२ ॥ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञःपरन्तप। सर्व्वंकर्मा-
खिलंपार्थज्ञानेपरिसमाप्यते॥ ३३ ॥ तद्विद्धिप्रणिपातेनपरिप्रश्नेनसेवया। उपदे-

भाषा अनुवाद

मिलता है तो परलोक सुख फेरि कहां प्राप्त होना है इस से यज्ञ को निश्चय से करना चाहिये हे कुरुसत्तम॥ यह कैमुतिक न्याय से देखाया है॥३१॥ ज्ञान यज्ञ की प्रशंसा करने के अर्थ अब सब यज्ञों की चर्चा करि न्यून अधिक तारतम्य देखावते हुये कहते हैं कि नाना प्रकार की यज्ञी वेद रूप सुख से प्रत्यक्ष विहित हैं पर तौ भी मन वचन शरीर के कर्म्म से उत्पन्न जो यज्ञ हैं सकल आत्मस्वरूप स्पर्श से रहित जानो अर्थात् उन मे आत्मज्ञान नहीं होता क्योंकि आत्मा कर्मों का अगोचर कहे कर्म से प्राप्य नहीं है इस से तुम ज्ञाननिष्ठ होय संसार से मुक्त होउगे यह जानो॥ ३२ ॥ अब ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस लिये आत्म व्यापार रहित जो द्रव्यमय देवता के अर्थ यज्ञ है तिस से ज्ञान यज्ञ ही श्रेष्ठ जानो और यद्यपि ज्ञान यज्ञ मानसिक व्यापार के आधीन है तथापि आत्मा का स्वरूप जो ज्ञान सो केवल मन का परिणाम अर्थात् ब्रह्मरूप होना मात्र है और ज्ञान कुछ मानस व्यापार से प्रगट नहीं है और ज्ञान की श्रेष्ठता मे हेतु यह है कि फल के सहित सर्व्व कर्म तत्त्वज्ञान के अन्तर्भूत हैं क्यों कि लोगों के किये हुये सत्कर्म्म ज्ञान के अनुगामी कहे साथ होते है यह वेद मे कहा है सोई इस श्लोक से कहा कि श्रेष्ठ है द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ हे परन्तप और सब कर्म्म हे पार्थ अर्जुन ज्ञान मे परिसमाप्त कहे लीन होते है इसी से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है॥ ३३ ॥ जो कहो कि भला जिस ज्ञान की ऐसी प्रशंसा करते हो सो किस प्रकार से प्राप्त होय तो ज्ञान के साधन कहे उपाय कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषों के निकट जाय नम्रता से प्रणाम कर प्रश्न करै कि किस कारण से हम को यह संसार भया और कैसे निवृत्त होगा और गुरु की सेवा शुश्रुषा करने से तुम को सो तत्त्वज्ञान मिलैगा और ज्ञानी जो शास्त्रज्ञ तथा तत्त्वदर्शी जो है वे तुम को उपदेश दे कर

क्ष्यन्तिते ज्ञानंज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४ ॥ यज्ज्ञात्वापुनर्मोहमेवंयास्यसिपाण्डव।
येनभूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथोमयि॥ ३५ ॥ अपिचेदसिपापेभ्यःसर्व्वेभ्यःपापकृ-
त्तमः। सर्वंज्ञानप्लवेनैव वृजिनंसन्तरिष्यसि॥ ३६ ॥ यथैधांसिसमिद्धोऽग्निर्भस्म-
सात्कुरुतेऽर्ज्जुन। ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेतथा॥ ३७ ॥ नहिज्ञानेन

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञान सम्पन्न कर देयङ्गे सोई कहते हैं कि दण्डवत् तथा प्रश्न औ सेवा करने से तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग तुम को ज्ञान उपदेश करैङ्गे और जैसे बन्ध औ मोक्ष तथा ज्ञान औ अज्ञान क्या वस्तु हैं सो कहेङ्गे॥३४॥ अब साढे ३ श्लोक से तत्त्वज्ञान का फल कहते हैं कि तत्त्वज्ञान होने से फेरि और बन्धुवध निमित्त ऐसे मोह को न प्राप्त होउगे कारण यह कि ज्ञान सम्पत्ति होने से अपने ज्ञानवशते प्रगट जो पिता पुत्त्र भाई बन्धु तिन को अपने आत्मा से भिन्न न देखोगे और साक्षात् परमात्मारूप हम से और अपने आत्मा मे अभेद देखोगे सोई कहते कि जिस ज्ञान को जानि के हे पाण्डव फेरि ऐसे मोह को न पावोगे और जिस मे सम्पूर्ण प्राणियों को अपने और मेरे मे देखोगे सो तत्त्वज्ञान महात्मों से मिलैगा॥ ३५ ॥ और जो सब पापी मनुष्यों से भी तुम अधिक पापी होउ तो भी पापरूप समुद्र को ज्ञान रूप नौका के द्वारा अनायास उतरि जावगे तात्पर्य्य यह है कि जो तुमने कहा था कि पापमेवाश्रयेदस्मान् अर्थात् कुटुम्ब के मारने से हमैं वड़ा ही पाप होगा और बन्धुवध रूप वृजिन कहे दुःख सागर के पार कैसे जायंगे सो यह अज्ञान से तुमारी भूल सहज उपाय आत्म ज्ञान से छूट जायगी ऐसे कहि कर श्रीभगवान ने ज्ञान का माहात्म कहा॥ ३६ ॥ जो पूर्व्व श्लोक मे कहा कि ज्ञान नौका से पाप समुद्र को उतरि जाउगे सो ठीक है पर पाप तो बना रहा इस सन्देह पर दृष्टान्त दे कर कहते हैं कि हे अर्ज्जुन जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि काष्ठ समूह को भस्म कर देती है तैसे ही ज्ञान अग्नि भी प्रारब्ध कर्म्म को छोड़ और सम्पूर्ण सञ्चित आगामी कर्मों को नाश करती है इस मे कुछ सन्देह न करो॥ ३७ ॥ तिस का कारण यह है कि संसारमे तप दान व्रत यज्ञ आदि के वीच ज्ञान के समान कोई भी चित्तशुद्ध नहीं करते है तो फेरि सब मनुष्य क्यों नहीं ज्ञान ही का अभ्यास करते

सदृशंपवित्रमिहविद्यते। तत्स्वयंयोगसंसिद्धःकालेनात्मनिविन्दति॥३८॥ श्रद्धा
वान्लभतेज्ञानंतत्परःसंयतेन्द्रियः। ज्ञानंलब्ध्वापरंशान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्चसंशयात्माविनश्यति। नायंलोकोऽस्तिनपरोनसुखंसंशयात्मनः॥४०॥

भाषा अनुवाद

इस पर डेढ श्लोक से कहते हैं कि बहुत काल कर्मयोग करने से शुद्धचित्त होय सहज मे लोग आत्मा का तत्त्वज्ञान लाभ करते हैं परन्तु निष्काम कर्मयोग रूप जो भक्ति तिस के विना तत्त्वज्ञान नहीं होता हैं सोई कहा कि न हि ज्ञानेन सदृशम्॥३८॥ और भी कहते हैं कि श्रद्धावान् कहे आचार्य्य तथा गुरू के उपदेश मे विश्वास करि आस्तिक बुद्धि हो तत्पर कहे एक उसी उपदेशमे दत्तचित्त हो और इन्द्रियों को वश राखि कर वह तत्त्वज्ञान लाभ करैं हैं इसी से ज्ञान लाभ के पहिले श्रद्धा पूर्वक चित्तशुद्धि के अर्थ निष्काम कर्म रूप भक्तियोग करना उचित है और ज्ञान होने पर ज्ञानी को फेरि अन्य कोई कर्म करना नहीं है सोई कहते हैं कि तत्त्वज्ञानी ज्ञान लाभ के अन्तर अचिरात् कहे अल्प काल मे झट पट मोक्ष पावते हैं इस मे सन्देह नहीं है॥३९॥ तत्त्वज्ञान के अधिकारी को कहि करि अब अनधिकारी जो अज्ञानी तिस का लक्षण कहते हैं कि एक तो शास्त्र औ गुरु तथा आचार्यका उपदेश कभी सुना नहीं और जो दैवात् सुना भी तो समझा नहीं और जो कुछ किसो तरह समझा भी तो उस मे श्रद्धा अर्थात् विश्वास न भई और जो किसी के कहने सुनने से विश्वास भी आई तो यह अर्थ कहे प्रयोजन हमारा सिद्ध होय कि न होय इस संशय मे पड़ गये ऐसे लक्षणों से भरे पूरे जो अलक्षणी अज्ञानी लोग हैं उन का मतलब कभी नहीं होता अर्थात् अपने मनोरथ से भ्रष्ट होते हैं उनी को नष्ट प्राणी कहते हैं परन्तु उपर कहे जो अज्ञानी औ श्रद्धा हीन तथा संशयग्रस्त इन तीन पुरुषों के मध्य मे संशय युक्त चित्त मनुष्य अच्छी तरह अपने मनोरथसे भ्रष्ट होता हैं क्योंकि उसको हरकाम औ हर बात मे संदेह लगी रहती है क्या धन उपार्जन क्या विवाह क्या दान धर्म क्या अपना सुख खाना पहिराना लेना देना आदि सब कामो मे संशय के मारे क्षणभर भी सुख नहीं है फेरि औरों को देखि हम कुछ नहीं करते यह चिन्ता छुटी शिरपर चढ़ी रहती

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥ तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः । छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां ज्ञानयोगनाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

भाषा अनुवाद

है तौ फेरि संशयके कारण धर्म न होने से स्वर्गादि भी नहीं मिलता और संसारमे तो धन नाशकी सन्देह कर सांसारिक सुखसे हाथ धोय ही वैठे है तो उन के लोक परलोक के दोनो सुख चले गये केवल चिन्ता के चिता मे वैठे धीरे धीरे जरि जराय के माटी मे मिले गये मूर्खता से जन्म चला गया कुछ भी न वन पड़ा सोई कहा कि अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति इति इस मे संशय छोड़ो ॥ ४० ॥ दूसरे औ तीसरे अध्याय मे कहा जो कर्मनिष्ठा औ ज्ञाननिष्ठा सोई दो श्लोक से कहते हैं कि जिसने भगवत आराधनरूप सव कर्म अन्तर्यामी भगवान को अर्पित किया है ऐसा मनुष्य अपने कर्मफल से कभी बद्ध नहीं होता और हम कोई कर्म नहीं करते ऐसे बोध से जिस के देह गेह मे आत्मबुद्धिरूप संशय नष्ट हो गई है ऐसे पुरुष के लोक शिक्षार्थ भिक्षा पर्य्यटन आदि स्वभावसिद्ध कर्म कभी भी ज्ञान के प्रतिबन्धक नहीं होते हैं सोई कहा कि योग जो भगवदाराधन कर्म तिस से दिया है कर्मोको संन्यास जिसने और ज्ञानसे अच्छी तरह दूर किया है संदेहको जिसने ऐसे आत्मस्वरूप पुरुष को हे धनञ्जय अर्जुन कर्मबन्धन नहीं कर सकते हैं ॥ ४१ ॥ जव कि भगवदर्पण रूप निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोग ऐसा है तौ हे भारत अर्जुन आत्म विषयक अपने अज्ञान से उत्पन्न औ अन्तःकरण मे टिके जो शोक मोह आदि सव संशय उन को देह आत्मा का विवेक कहे विचाररूप ज्ञानखड्ग से काटि कर वेखटक तुम उठो औ कर्मयोग का अनुष्ठान करो और उपस्थित जो युद्ध सो करो श्रीकृष्ण ने भारत इस सम्बोधन से यह जनाया कि युद्ध क्षत्री का स्वधर्म है और तुम श्रेष्ठ भरत वंश मे उत्पन्न हौ। श्रीधरस्वामी कहते हैं कि पुरुषों को अवस्था भेद से कर्ममय औ ज्ञानमय ये दो प्रकार की निष्ठा जिस ने कहा ऐसे संशय निवारण भगवान श्रीकृष्ण को मै प्रणाम करता हूं ॥ ४२ ॥ इति जगन्नाथशुक्लविरचितायां मनभावनीटीकायां चतुर्थोध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

पञ्चम अध्यायः।

अर्ज्जुन उवाच॥ संन्यासंकर्म्मणांकृष्णपुनर्योगञ्चशंससि। तच्छ्रेयएतयोरेकं तन्मेब्रूहिसुनिश्चितम्॥१॥ श्रीभगवानुवाच॥ सन्न्यासकर्म्मयोगश्चनिश्रेयसकरावु-

---

भाषा अनुवाद

कर्मयोग औ संन्यासयोग मे अर्ज्जुनको संशय निवारण करिके अब जितेन्द्रियों की मोक्ष परता श्रीभगवान श्रीमद्भगवद्गीताके पंचये अध्यायमे कहैंगे अज्ञानसे उत्पन्न भई जो संशय तिस को ज्ञानखड्ग से छेदन करि के निष्काम कर्मयोग करो यह जो भगवान ने पुनर्व्वार कर्म करने को कहा तो पूर्व्वापर कहे आगू पीछू जो कर्म त्याग औ कर्म करने को भगवत की आज्ञा तिस को विचारते हुये अर्ज्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण ३ अध्याय के १७ श्लोक मे जो आप ने कहा कि यस्त्वात्म-रतिरेव स्यात् और ४ अध्याय के ३३ श्लोकादि से कहा कि सर्व्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञानं परिसमाप्यते यह तत्त्वज्ञानी को सर्व्व कर्म्म का त्याग रूप संन्यास ही कहा और ४ अध्याय के ४२ श्लोक मे तस्मादज्ञानसम्भूतम् इत्यादि ज्ञान रूप असि से संशय छेदन करि के उठो और युद्ध करो यह कहि फेरि कर्मयोग की आज्ञा देते हैं परन्तु ये दोनो परस्पर विरुद्ध हैं अर्थात् कर्म का करना और छोड़ना यह एक पुरुष को एकही काल मे असम्भव है सो हे कृष्ण संन्यास अथवा कर्मयोग इन दोनो मे जो करने मे हम कृतार्थ होंय सो एक प्रकार निश्चय निर्धार करि के कहो और कभी संन्यास कभूं कर्मयोग कहि कहि हमै सन्देह मे वार वार न डारो ॥१॥ अर्ज्जुन की इस प्रश्न का उत्तर श्रीभगवान कहते हैं कि हे अर्ज्जुन हम वेदान्ती

भौ । तयोस्तुकर्मसंन्यासात्कर्मयोगोविशिष्यते ॥ २ ॥ ज्ञेयःसनित्यःसंन्यासीयो नद्वेष्टिनकांक्षति । निर्द्वन्द्वोहिमहाबाहोसुखंबन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥ सांख्ययोगौ

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञानी के प्रति कर्मयोग करना नहीं कहते हैं क्यों कि तत्त्वज्ञानी को कर्म त्याग के उपदेश से विरोध पडैगा परन्तु देह आदि मे आत्म अभिमानी तुम को जो बन्धुवध निमित्तक शोक मोह से उत्पन्न संशय तिस को स्थूल शरीर औ आत्मा का विवेक रूप खड्ग से छेदन के अनन्तर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने को उपाय रूप जो निष्काम कर्मयोग सोई अनुष्ठान करने को कहा है देखो निष्काम कर्म करने से चित्त शुद्ध होके तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञान के परिपाकार्थ ज्ञान निष्ठा का अङ्ग भूत कर्म के त्याग को मैने कहा है परन्तु ज्ञानमार्ग मे आरूढ़ पुरुष को कर्म का त्याग और अनारूढ़ पुरुष को भगवदाराधन निष्काम कर्मयोग कहा सोई कहते हैं कि संन्यास औ कर्मयोग ये दोनो निःश्रेयस मुक्ति के करने वाले हैं परन्तु दोनो के बीच संन्यास से कर्मयोग ही अधिक है जिस हेतु कर्मयोग से ज्ञान प्राप्त होके तब संन्यास अर्थात् कर्म का त्याग विहित है और पहिले ही नही ॥ २ ॥ जो सन्न्यास से कर्मयोग को विशेष कहा सोई अब कर्मयोग की प्रशंसा करते हुये कहते हैं कि जो कर्म करता हुआ भी न किसी से वैर करता और न कुछ चाहता है तथा सुख दुख हानि लाभ द्वन्द्वभाव से रहित है सोई नित्य संन्यासी है और संसार बन्धन से छूट जाता है अथवा संन्यासी के ऐसे आचरण करता हुआ जो राग द्वेष रहित कर्म करता है सो नित्य सन्न्यासी कहे निश्चय संन्यासी और संन्यासी तो संन्यासी ही है क्यों कि कर्म सन्न्यास श्रेष्ठ है इहां एक सन्न्यासी प्रत्यपर है ॥ ३ ॥ जिस हेतु सन्न्यास औ कर्मयोग दोनो प्रधान अङ्ग रूप अवस्था भेद मे पाये जाते हैं इस से इस मे कौन श्रेष्ठ ऐसा पूछना अज्ञानी को तो उचित हो सकता है पर ज्ञानी को तो नहीं यही कहते हैं कि ज्ञाननिष्ठा जो सांख्य औ उसी का अङ्गरूप सन्न्यास तथा सन्न्यास से लक्षित कर्मयोग भी सन्न्यास है इन दोनो का फल एक ही है तौ भी दोनो भिन्न हैं यह केवल अज्ञानी कहते हैं औ पण्डित ऐसा नहीं कहते हैं देखो इन मे से एक पक्ष का आश्रय लेने

पृथग्बालाःप्रवदन्तिनपण्डिताः। एकमप्यास्थितःसम्यगुभयोर्विन्दतेफलम्॥४॥ यत्
सांख्यैःप्राप्यतेस्थानंतद्योगैरपिगम्यते। एकंसांख्यञ्चयोगञ्चयःपश्यतिसपश्यति
॥५॥ सन्न्यासस्तुमहाबाहोदुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तोमुनिर्ब्रह्मनचिरेणाधि-

भाषा अनुवाद

बाला पुरुष दोनो के फल को प्राप्त होता है जैसे लोग निष्काम कर्म्म करते शुद्ध चित्त होय तत्त्वज्ञ न प्राप्ति के द्वारा उस दोनो का फल जो कैवल्य सो लाभ करते हैं ऐसे ही सब कर्म त्यागरूप सन्न्यासधारी लोग भी पूर्व्वकृत कर्मयोग की परम्परा रूप जो कैवल्य सो पावते हैं तो अलवत्तां दोनों का फल पृथक् नहीं है। सोई कहा कि सांख्य औ योग को बालक कहे अज्ञजन भिन्न कहते और पण्डित नहीं कहते हैं एकमे भी अच्छी तरह से स्थित होके फल दोनो का भी पावता हैं इस से दोनो एक हैं॥४॥ सांख्य औ योग दोनो मे से एक के सम्यक् अनुष्ठान करने से दोनो का फल किस तरह पावता है इस शङ्का पर सांख्य औ योग का एक फलत्व प्रकाश करते हुये भगवान कहते हैं कि सांख्य कहे ज्ञाननिष्ठ सन्न्यासी जो मोक्ष पद पावते हैं सोई पद योग शब्द वाच्य कर्म्मयोगी भी ज्ञान के द्वारा प्राप्त होते है इससे एकही फलके हेतुरूप संन्यास औ योगको जो एकरूप देखते है तेई सम्यक् दर्शी हैं सोई कहा कि जो पद सांख्य लोग पावते सोई योग पुरुषों को भी मिलता है और सांख्य योग को जो एक देखते सो देखते है बाकी सूरदास बने बैठे हैं या जो कोई विरले ऐसे देखते हैं सब नहीं ऐसे देखते हैं॥५॥ जो ऐसा है कि योगी लोगों को भी शेष मे सन्न्यास ही से ज्ञाननिष्ठा होती औ ज्ञान के द्वारा मोक्ष पद पावते तो फेर सन्न्यास से कर्मयोग को अधिक क्यों पीछे कहा उचित है कि प्रथम हीं से संन्यास करें इस संशय युक्त अर्ज्जुन के प्रति भगवान कहते हैं कि प्रथम कर्मयोग के किये विना हे महाबाहो अर्ज्जुन संन्यास का अभ्यास करना अति कठिन औ दुख का मूल है क्यों कि चित्त शुद्ध भये विना ज्ञान होना असम्भव है परन्तु कर्म के अनुष्ठान करनेवाले मुनिलोग चित्त शुद्धि के द्वारा संन्यास होय अर्थात् कर्म छोड़ कर अचिरात् कहे शीघ्रही ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं याने ब्रह्म रूप हो जाते है इस से चित्तशुद्धि के पहले निकाम कर्म करना हो संन्यास से श्रेष्ठ

गच्छति ॥६॥ योगयुक्तोविशुद्धात्माविजितात्माजितेन्द्रियः । सर्व्वभूतात्मभूतात्माकुर्व्वन्न
पिनलिप्यते ॥ ७॥ नैवकिञ्चित्करोमीतियुक्तोमन्येततत्त्ववित् । पश्यन्शृण्वन्स्पृ-
शन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।

भाषा अनुवाद

होता है ॥ ६ ॥ जो ऐसा कहो कि कर्म के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि प्रभृति परम्परा प्रणाली क्रम से ब्रह्मज्ञान होने के अनन्तर इस ज्ञानी का पूर्व्वकृत कर्म प्रतिबन्धक क्यों न होय इस आशङ्का पर कहते हैं कि जो पुरुष योगयुक्त अर्थात् निष्काम कर्मयोग रूप भक्ति अनुष्ठान करता है और जिस ने चित्त तथा इन्द्रियगण अपने वशीभूत कर राखा है और जो अपने आत्मा को शरीर धारी दूसरे प्राणियों के आत्मा से भिन्न बुद्धि न कर के सर्व्वभूत मे टिका जो चेतनरूप आत्मा तिस को अद्वैत कहे एकरूप विचार कर देखते हैं इसी से वेलोग शुद्धचित्त भिक्षा के अर्थ अथवा स्वभाव आधीन शौच भिक्षा आदि जो सब कर्मों को करते हुये भी उन कर्मों मे लिप्त नहीं होते न कर्म उन को लगते है ॥ ७ ॥ और जो ऐसी शङ्का करो कि कर्म्म अनुष्ठान कर के भी उस मे लिप्त कहे आसक्त न होना यह अत्यन्त असम्भव है लिप्त होहीगा इस पर दो श्लोक से कहते हैं कि कर्त्तृत्व अभिमान रहित होना असम्भव नहीं है क्यों कि निष्काम कर्मयोग रूप भक्ति अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य क्रम से तत्त्वज्ञानी होय के दर्शन आदि इन्द्रिय व्यापार करते भी इन्द्रिय सब अपना अपना काम करती हैं और हम कुछ भी नहीं करते ऐसी बुद्धि उन की निश्चय बनी रहती है यथा दर्शन श्रवण स्पर्श घ्राण भोजन ये ज्ञान इन्द्रियों के व्यापार और गमन वचन विसृजन कहे विष्ठा मूत्रत्याग जो कर्म इन्द्रियों के काम और ग्रहण जो कर का व्यापार औ स्वपन् बुद्धिव्यापार निद्रा होना श्वसन् प्राणवायु व्यापार और उन्मेष निमेष कहे पलक लभना खुलना जो कर्म्म वायु से होता है यह सब इन्द्रिय आदि का कर्म है और हम द्रष्टा साक्षी रूप है यह कुछ कर्म हम नहीं करते ऐसे ही ज्ञानी पुरुष इन कर्मों मे अभिमान शून्य लिप्त नहीं होते हैं सोई कहा दो श्लोक से कि इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तते इति धारयन् यहां तक ॥ ८ ॥ आठ नव दोनो श्लोक का अर्थ एक ही साथ है ॥ ९ ॥ और जो मनुष्य

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्॥ ९ ॥ ब्रह्मण्याधाय कर्माणिसङ्गं त्यक्त्वा करोतियः। लिप्यतेनसपापेनपद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥ कायेनमनसाबुद्ध्याकेवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनःकर्म्मकुर्वन्तिसङ्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥ युक्तःकर्मफलंत्यक्त्वा शान्तिमाप्नोतिनैष्ठिकीम्। अयुक्तःकामकारेणफलेसक्तोनिबध्यते॥ १२ ॥ सर्व्व-

भाषा अनुवाद

हम कर्म्म करते हैं ऐसा अभिमान रखते हैं तेई कर्म मे लिप्त होने औ उन्ही को कर्मबन्ध होता है फेरि चित्त की अशुद्धता से उन को संन्यास भी दुर्घट है इस से उन को सब तरह सङ्कट है जो ऐसी शङ्का करो तो यह उत्तर सुनो कि अन्तर्यामी ईश्वर की प्रेरणा से हम सब कर्म करते हैं ऐसे विचार करि सकल कर्म्म ईश्वर मे समर्पण कर के औ कर्म काल मे आसक्ति रहित कर्म करते हैं तो उन को कर्म प्रतिबन्धक नहीं होते और वे कर्म से लिप्त नहीं है जैसे पद्मपत्र जलमे निरन्तर रहते भी जल से अलग है सोई कहा कि ब्रह्म मे कर्म अर्पण करि सङ्ग कहे आसक्ति छोड़ि जो कर्म करै है सो पाप से नहीं लिप्त होता जैसे कमल का पत्ता जलमे रहि के भी जल से भिन्न है॥१०॥ निष्काम कर्मबन्धक नहीं है इस कहने के बाद अब उत्तम मनुष्यों को कर्म के द्वारा मुक्ति दिखावते हैं कि शरीर से स्नानादि मन से ध्यानादि औ बुद्धि से तत्त्व निश्चयादि तथा कर्म मे आसक्ति रहित औ फलाभिलाष शून्य हो कर इन्द्रियों के द्वारा श्रवण कीर्त्तन चिन्तन आदि चित्तशुद्धि के अर्थ कर्मानुष्ठाई योगीजन कर्म करते हैं सोई कहा कि काय मन बुद्धि से आत्मशुद्धि के हेतु सङ्ग छोड़ि योगीजन कर्म करते हैं॥११॥ जो ऐसी शङ्का करो कि वही एक कर्म से कोई तो मुक्त औ किसी को बन्ध यह कैसी व्यवस्था है तो इस का निवारण करते हैं कि योगी कर्मकारी पुरुष ईश्वर मे एक निष्ठ हो कर्म्मफल को त्यागि कर्म अनुष्ठान करि के अत्यन्त शान्ति स्वरूप जो मुक्ति तिस को प्राप्त होते हैं परन्तु अयुक्त कहे कामना विशिष्ट कर्म बहिर्मुख लोग काम्य कर्म से अवश्य ही बद्ध होते हैं युक्त कहे ईश्वरार्थ कर्म्म करने वाले॥१२॥ इन सब बातों से अशुद्ध चित्त मनुष्य को सन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्म्म करना ही श्रेय है यह विस्तार पूर्वक कहि कर अब शुद्ध चित्त पुरुष को सन्यास ही श्रेष्ठ है यह

कर्माणिमनसासंन्यस्यास्तेसुखंवशी। नवद्वारेपुरेदेहीनैवकुर्व्वन्नकारयन् ॥ १३ ॥
नकर्तृत्वंनकर्माणिलोकस्यसृजतिप्रभुः। नकर्मफलसंयोगंस्वभावस्तुप्रवर्त्तते ॥ १४ ॥
नादत्तेकस्यचित्पापंनचैवसुकृतंविभुः। अज्ञानेनावृतंज्ञानंतेनमुह्यन्तिजन्तवः ॥ १५ ॥

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि जितचित्त विवेक युक्त बुद्धि के द्वारा विक्षेप कारक सब कर्म छाडि कर जैसे सुख मे रहते तैसे ज्ञाननिष्ठ युक्त होके भी सुख मे रहते हैं जो कहो कि कहां रहते तो कहते हैं कि नव द्वार पुर जो अहङ्कार शून्य शरीर तिस मे आत्म स्वरूप से स्थित रहते हैं और अहङ्कार के अभाव से आप शारीरक कर्म नहीं करते और ममता के अभाव से दूसरे से भी वें कोई काम नहीं करावते हैं यह शुद्ध औ अशुद्ध चित्त मनुष्यों का भेद भगवान ने कहा॥ १३ ॥ ईश्वर जिस को इस लोक से श्रेष्ठ लोक को लेजाने की इच्छा करते हैं उस से सत्कर्म करावते और जिसे अधो लोक लेजाने की इच्छा करतें उस से कुकर्म करावते हैं यह श्रुतिमे कहा है तो परमेश्वर की प्रेरणा से पराधीन जो मनुष्य सो कैसे वे कर्म त्याग करने सकैं एक तो यह दूसरे जो परमेश्वर ही की प्रेरणा से शुभ अशुभ कर्ममे लोग प्रवृत्त होते हैं तो ईश्वर भी विषम दृष्टि औ निर्दय हैं फेरि कर्मों का करवावनेवाला भी वही है तो उस को भी पुण्य पाप सम्बन्ध होय न क्यों जो यह शङ्का करो तो इस का सिद्धान्त श्लोक से कहते हैं कि प्रभु जो ईश्वर सो मनुष्यों को कर्तृत्व अथवा कर्म सृजन नहीं किया किन्तु मनुष्यों का पूर्व्व कर्म संस्कार रूप जो अज्ञान सोई कर्तृ-त्वादि मे प्रवृत्त करै है इसीसे अपनी अनादि अविद्या से कामना के वश होय प्रवृत्ति युक्त पुरुष को ईश्वर भी कर्म्म मे नियुक्त करते हैं और ईश्वर कुछ आप से उस को प्रवृत्ति नहीं देते हैं सोई कहा कि कर्तृत्व औ कर्म तथा फलयोग प्रभु ने नहीं किया लोग सब स्वभाव अर्थात् माया से प्रवृत्त हैं॥ १४ ॥ जिस हेतु भगवान न कुछ करते और न किसी से न कुछ करवावते हैं वे तो विभु कहे व्यापक तथा पूर्ण काम हैं इस से भक्त अभक्त किसी के पुण्य या पाप के भागी नहीं है परन्तु परमेश्वर की अचिन्त्य जो माया सोई पूर्व्व कर्म्म के अनुसार ऊंच नीच कर्म्म मे लोगों को प्रवृत्ति देती और अज्ञान से ज्ञान आवृत्त कहे घेरा है तिस से सब मोहित होते

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयतितत्परम् ॥ १६ ॥ तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥ विद्याविनयसम्पन्नेब्राह्मणेगविहस्तिनि। शुनिचैव श्वपाकेचपण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥ इहैवतैर्जितःसर्गोयेषां साम्ये स्थितं मनः।

भाषा अनुवाद

हैं जो कहो कि पूर्ण काम को फेरि भक्तों पर अनुग्रह औ अभक्तों का निग्रह क्यों कर घटै है तो कहते हैं परमेश्वर का निग्रह रूप दण्ड अनुग्रह है अर्थात् दण्ड होने से पापी का पाप दूर हो जायगा ऐसे दण्ड रूप अनुग्रह का न जानना जो अज्ञान सोई परमेश्वर विषयक ज्ञान को आवृत करता है तो फेरि जीव मोहित होय अपने अज्ञान से परमेश्वर मे विषम दृष्टि का आरोप करते हैं ॥ १५ ॥ और ज्ञान से जिन का अज्ञान नाश हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुषों को पर जो भगवत् स्वरूप सो प्रकाशमान है जैसे सूर्य्य के प्रकाश से अन्धकार दूर हो वस्तु सब प्रकाशित होती हैं। लोग केवल अपने मोह से ईश्वर मे मोह कल्पना करते हैं ॥ १६ ॥ ऐसे जो परमेश्वर तिन के उपासकों को प्राप्त जो फल होता हैं सो कहते हैं कि भगवत की भक्ति से अवश्य ही संसार सागर को उतर जायङ्गे ऐसो जिन के निश्चय रूप बुद्धि है और तैसे ही भगवद्भक्ति मे उत्पन्न औ तत्पर हैं और परमेश्वर ही जिन के परम अवलम्ब है सोई जन ईश्वर के प्रसाद से निःपाप होय मुक्तिपद पाय आवागमन से रहित होते हैं। सोई कहा कि ईश्वर मे बुद्धि औ ईश्वर मे आत्मा औ ईश्वर मे निष्ठा तथा ईश्वर मे परायण पुरुष ज्ञान मे निर्द्धूत कल्मष अपुनरागमन पद मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ तो वे तत्त्वज्ञानी जो मुक्तिलाभ करते कैसे होते हैं सोई कहते हैं कि विषम वस्तु मे सम ज्ञान अर्थात् सकल वस्तु मे ब्रह्मरूप देखते हैं जैसे कि विद्या औ विनय से युक्त ब्राह्मण औ गऊ हाथी कुत्ता तथा चाण्डाल इन सब मे पण्डित कहे ज्ञानी समदर्शी होते हैं अर्थात् सब मे आत्मा रूप ईश्वर को एकरूप देखते हैं ॥ १८ ॥ यह सुनि जो सन्देह होय कि विषम से सम दृष्टि मनुष्य पण्डित कैसे औ गौतम ने कहा है कि विषम मे सम पूजन औ सम मे विषम पूजन करने वाले लोक पर लोक

निर्दोषंहिसमंब्रह्मतस्माद्ब्रह्मणितेस्थिताः॥ १९ ॥ नप्रहृष्येत्प्रियंप्राप्यनोद्विजेत्प्राप्य-
चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमूढोब्रह्मविद्ब्रह्मणस्थितः॥२०॥ वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्माविन्द-
त्यात्मनियत्सुखम्। सब्रह्मयोगयुक्तात्मासुखमक्षयमश्नुते॥ २१ ॥ येहिसंस्पर्शजा
भोगादुःखयोनयएवते। आद्यन्तवन्तःकौन्तेयनतेषुरमतेवुधः॥२२॥ शक्नोतीहैव

भाषा अनुवाद

से भ्रष्ट होते हैं इस शङ्का को निवारण करते हुये कहते हैं कि जिन का मन सम भाव मे स्थित है उनो ने इहांई स्वर्ग जय कर लिया है क्यों कि सर्वत्र समान रूप निर्दोष ब्रह्म परिपूर्ण ही रहा है ऐसा जो जानते ते ब्रह्म मे स्थित कहे ब्रह्म रूप निर्दोष और गौतम की वात ज्ञान अवस्था के पहिले की है ॥ १९ ॥ अब ब्रह्म भाव प्राप्त पुरुष का लक्षण कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानी होके जो ब्रह्म मे स्थित हैं वै कोई प्रिय वस्तु पाय के हर्षित नहीं होते हैं और अप्रिय प्राप्त होने से भी विषाद नहीं करते हैं क्यों कि वै लोग स्थिर वुद्धि और मोह रहित हैं ॥ २० ॥ मोह निवृत्त भाव होने से वुद्धि स्थिर होती इस का हेतु कहते हैं कि वाह्य इन्द्रियों के विषय मे अनाशक्त चित्त पुरुष अपने अन्तःकरण मे विक्षेप रहित शान्ति युक्त जो सात्त्विक सुख सो अनुभव करते और वही पुरुष शान्ति सुख प्राप्त होके ब्रह्मयोग युक्त आत्मा कहे समाधि के द्वारा परमात्मा के साथ एकता की प्राप्ति रूप जो अक्षय सुख सो भी लाभ करते हैं ॥ २१ ॥ प्रिय जो विषय भोग तिन के निवृत्त होने से फेरि मुक्ति पुरुषार्थ अर्थात परम प्रिय कैसे है इस संशय पर कहते हैं कि जो स्पर्श आदि विषय और उन विषयों से प्रगट जो सुख सो भोग समय मे स्पर्द्धा कहे और का अधिक सुख देखि इच्छा की वृद्धि औ आयुदी ही भर हैं और भोग पीछे कुछ नहीं हैं खाली चिन्ता भाव करते हैं इन सव हेतुओं से केवल दुःख के कारण हैं उन का आदि अन्त भी है इस से हे कौन्तेय विवेकी लोक उस विषय सुख भोग मे नहीं रमित होते हैं ॥२२॥ इस से मुक्ति ही परम पदार्थ है और काम क्रोध से उत्पन्न जो क्षोभ सोई मुक्ति का प्रति-पक्ष हैं अतएव उस के वेग को जो सहि सकै सो मुक्तिभागी होय गा यही कहते हैं कि शरीर रहते अथवा शरीर सामर्थ्य रहते हुये जो काम क्रोध के वेग को

यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिग
च्छति॥२४॥ लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्व्व
भूतहिते रताः॥२५॥ कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनि-
र्व्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥ स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।

भाषा अनुवाद

सहि लेने सकै सोई नर युक्त कहे आत्मरूप और सुखी हैं॥ २३॥ और केवल काम क्रोध का वेग जीतने हीं से मुक्त नहीं होये है और भी कहते हैं कि जो अपने परमात्मा मे सुखी औ विषय भोग से सुखी नहीं है और जो पुरुष आत्माराम हो के आत्मा ही मे विहार करता और बाहर के व्यापार से निरत तथा अन्तर प्रकाश है अथवा आत्माही मे दृष्टि औ नृत्य गीत आदि विषयों मे दृष्टि नहीं रखता है सोई योगी यह कहे जीवते ही ब्रह्मरूप ब्रह्म मे लीन होता है॥ २४॥ मुक्ति का हेतु जो ज्ञान तिस को साधन उपाय प्रकारान्तर कहे दूसरी तरह से कहते हैं कि ऋषि कहे सम्यक् दर्शी सन्न्यासी लोग जो यज्ञ आदि नित्य नैमित्तिक कर्म्म करि क्षीण कल्मष कहे निष्पाप होके श्रवण आदि से ज्ञान के द्वारा छिन्न द्वैध कहे संशय रहित हो गये हैं और जिन का चित्त औ इन्द्रियगण वशीभूत है औ प्राणियों के हितकारी दयालु स्वभाव अर्थात् हिंसा रहित हैं वेई ब्रह्म मे लय रूप मोक्ष पावते हैं॥ २५॥ और काम क्रोध से विमुक्त ज्ञानी जन सन्न्यासी यतचित्त लोग विदित है आत्मा जिन को ते जीवित औ मृत दोनों अवस्था मे मुक्ति है ऐसा नहीं कि वेदान्त मे वे मुक्ति पावेंगे किन्तु वे जीवते भी ब्रह्म के साथ एक रूप होय जीवन्मुक्त ऐसे प्रसिद्ध होते हैं॥ २६॥ इसी अध्याय के २४ श्लोक से कहा कि योगी मोक्ष पावै हैं सोई फेरि संक्षेप से कहते हैं कि शब्द स्पर्श आदि बहिर्विषयों को बाहर करि के और चक्षु कहे दृष्टि को भौंह के मध्य मे राखि प्राण अपान वायु को सम करि के कुम्भक प्राणायाम करै भ्रूमध्य मे दृष्टि इस लिये कहा कि नेत्र बन्द करने से निद्रावश हो मन लय कहे लीन हो जाता और खुले रहने से मन विषयों पर धावता है अध खुले रहने से भ्रू के बीच निकट ही दृष्टि रहती

प्राणपानौसमौकृत्वानासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥　यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः। विगतेच्छाभयक्रोधोयःसदामुक्तएवसः॥ २८॥　भोक्तारंयज्ञतपसांसर्व्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदंसर्व्वभूतानांज्ञात्वामांशान्तिमृच्छति॥२९॥　इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु सन्न्यासयोगनाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

भाषा अनुवाद

है औ दोनो वायु सम करि नासिका रन्ध्र से सञ्चार करती हैं जिस मे प्राणवायु बाहर औ अपान भीतर संचार न करै इस वास्ते कुम्भक प्राणायाम योग करै॥ २७॥　और इसी उपाय से जिस की इन्द्रिय औ मन बुद्धि आदि वशीभूत हैं औ मुक्ति प्राप्ति के योग्य है और जिस ने इच्छा भय क्रोध को दूर किया है ऐसे गुणों से सदा युक्त जो मुनि सो जीवन काल मे भी मुक्त अर्थात् बद्ध कर्म रहित जीवन्मुक्त है॥ २८॥　जो कहो कि इन्द्रिय मात्र वश करने से कैसे मुक्त होय तिस पर कहते कि हां मुक्ति ज्ञान हीं के द्वारा होती है देखो हमारे भक्तों मे समर्पित यज्ञ औ तप के अयाचितरूप भोक्ता औ प्रतिपालक सर्व्व लोक मे श्रेष्ठ ईश्वर सब से निरपेक्ष अन्तर्य्यामी रूप हम को जानि कै योगी लोग मेरी अनुग्रह से शान्ति कहे मोक्ष पावते हैं॥ २९॥　श्रीधर स्वामी कहते कि जो अर्ज्जुन की कर्म्मयोग औ ज्ञानयोग की पृथक् शङ्का निवारि कै जिस ने क्रम से दोनो को एक कहा है सोई जगत गुरु श्रीकृष्ण को हम प्रणाम करते हैं॥　इति जगन्नाथ शुक्ल विरचितायां मनभावनीटीकायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

षष्ठ अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। अनाश्रितकर्मफलंकार्य्यंकर्मकरोतियः। ससंन्यासीचयोगीच

भाषा अनुवाद

श्रीधर स्वामी छठयें अध्याय के आरम्भ मे वर्णन करते हैं कि मनुष्यों को चित्त शुद्ध होने से भी ध्यान के विना केवल सन्न्यास मात्र से मुक्ति नहीं मिलती है इसी हेतुसे श्रीभगवान छठयें अध्याय मे ध्यानयोग को विस्तार करि कहते हैं कि पञ्चम अध्याय के अन्त भाग मे संक्षेप से कहा गया जो ध्यानयोग सोई विस्तार करने को छठयें अध्याय का आरम्भ अर्थात् सर्व्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी इस ५ अध्याय के १३ श्लोक से सर्व्व कर्म्म त्याग पूर्व्वक ज्ञाननिष्ठा को प्रशंसा करने से और कर्म्म अनुष्ठान क्लेशकारी है इस से हठात् कर्म्म त्याग की अवस्था के विना भी कर्म्म का त्याग मनुष्यों के मन मे होय उठै है सो तिस के निवारण के अर्थ कर्म्म छोड़ ने से कर्म्म करना श्रेष्ठ है यह कहि कर्म योग की वड़ाई करते हुये भगवान कहते हैं कि॥ अनाश्रित कहे कर्म फल की आकाङ्क्षा रहित होय कर. सव कर्म्म अवश्य ही कर्त्तव्य हैं इस विचार से जो विहित कर्म्म का अनुष्ठान करै सोई संन्यासी औ सोई योगी हैं नहीं तो निरग्नि कहे अग्निसाध्य यज्ञादि कर्म त्यागी औ अक्रिय अर्थात् वे अग्नि के कर्म्म कुंआं ताल वावड़ी खनन तथा दानादि कर्म्म त्यागी होके लोक अपने को योगी समझैंगे किन्तु ऐसा नहीं है तात्पर्य्य यह कि फल ही का त्याग उचित कर्म का त्याग नहीं अर्थात् ऊपर लिखे सव कर्म्म विष्णु प्रीत्यर्थ करना ही चाहिये सोई कहा अनाश्रित कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म करोति

ननिरग्निर्नचाक्रियः॥ १ ॥ यसंन्यासमितिप्राहुर्योगंतंविद्धिपाण्डव। नह्यसंन्य-
स्तसङ्कल्पोयोगीभवतिकश्चन॥२॥ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगंकर्मकारणमुच्यते। योगा-
रूढस्यतस्यैवसमःकारणमुच्यते॥३॥ यदाहिनेन्द्रियार्थेषुनकर्मस्वनुषज्जते। सर्व-
सङ्कल्पसंन्यासीयोगारूढस्तदोच्यते॥ ४ ॥ उद्धरेदात्मनात्मानंनात्मानमवसादयेत्।

भाषा अनुवाद

यः॥ १ ॥ यह सुनि अर्ज्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण किस कारण से वै मनुष्य योगी औ सन्न्यासी नहीं है इस पर कर्म योग को सन्न्यास प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि हे पाण्डव अर्ज्जुन सन्न्यास मात्र ही को जो सब श्रुतियों ने श्रेष्ठ कहा है सोई फल सन्न्यास रूप कर्म्म को भी जानो जो कहो कि कैसे जाने तो कहते हैं कि इति शब्द से कहे जो हेतु सो योग मे भी हैं सोई डेढ़ श्लोक से कहते हैं कि कर्म निष्ठा या ज्ञान निष्ठा जो होय पर फल की इच्छा त्याग विना योगी नहीं इस से फल कामना मे जिस का चित्त विक्षिप्त नहीं सोई योगी औ सन्न्यासी है सोई कहा नह्यसंन्यस्त सङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २ ॥ तो फेरि यावत् जीवन कहे जिन्दगी भर कर्म्म योग ही करना चाहिये जो ऐसी शङ्का करो तो कर्म योग की अवधि कहते हैं कि ज्ञान योग मे आरूढ़ होने की इच्छा करनेवाले पुरुष को उस राह के चढने मे कर्म ही कारण रूप कहा है क्यों कि निष्काम कर्म चित्त शुद्धि करता हैं और ज्ञान योग आरूढ़ कहे ज्ञानी को शम कहे विक्षेपकारी कर्म सकल का त्याग ही उचित जिस लिये त्याग ज्ञान परिपाक का कारण रूप कहा है॥ ३ ॥ जो पूछा कि वह ज्ञानयोग आरूढ़ पुरुष जिस को विक्षेपकारी कर्म का त्याग कहा गया कैसा होता है तो कहते हैं कि जब इन्द्रियों के भोग जो विषय तिन मे और भोग के साधन भूत कर्मों मे आसक्त न होय और कर्म सङ्कल्प को छोड़ि सकै तब उन को योगारूढ़ कहते हैं॥ ४ ॥ देखो विषयों से इच्छा निवृत्ति होने से मोक्ष औ विषयों मे आसक्ति से बन्ध होता है यह विचारि राग द्वेषादि स्वभाव से रहित होना उचित सोई कहते हैं कि विवेक युक्त आप ही अपने आत्मा को बुद्धि के द्वारा संसार से उद्धार करैगा और अधोगति को न ले जायगा जिस हेतु कामना से निवृत्ति जो आत्मा कहे मन सोई

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥ बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना-
जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥ जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा-
समाहितः। शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानावमानयोः ॥ ७ ॥ ज्ञानविज्ञानतृ-
प्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥ सुहृ-

भाषा अनुवाद

अपना बन्धुरूप उपकारी है और कामना मे आसक्त जो मन सो शत्रुरूप अपकारी है तो अपना शत्रु मित्र आप ही है ॥ ५ ॥ अब आत्मा ही तो किसी मनुष्य का बन्धु औ किसी का रिपु है इस अपेक्षा पर कहते हैं जिसने अपने आत्मा को जीता अर्थात् विज्ञानमय आत्मा कर्तृक कार्य्य कारण मिलित रूप जो आत्मा स्थूल सूक्ष्म शरीरादि वशीभूत होती है सोई विज्ञानमय जीव अपना बन्धु है और अनात्मा कहे शरीरादि अवशीकृत जो है सोई आप अपना शत्रु तुल्य है ॥ ६ ॥ जितात्मा पुरुष को जो अपने आत्मा मे बन्धुता है सो खुलासा करि के कहते हैं कि जिस ने आत्मा जो शरीर आदि तिस को जीता अर्थात् अपने आधीन किया है केवल वह प्रीति विरोध आदि से रहित मनुष्य का मन शीत उष्ण सुख दुःख आदि मे समाहित कहे सावधान रहता हैं अर्थात् वही आत्मानिष्ठ है अथवा उसी का हृदय परमात्मा मे समाहित अर्थात् विक्षेप रहित निश्चल होता किसी का और समाहित नहीं हो सकता है ॥७॥ योग आरूढ़ पुरुष के लक्षण औ श्रेष्ठता कहते हैं कि ज्ञान कहे शास्त्र से अथवा गुरू के उपदेश से यो होय और विज्ञान जो अनुभव सिद्ध अर्थात् हम सोई वह्म हैं यह प्रत्यक्ष ज्ञान इन दोनो से जिस का आत्मा कहे चित्त सन्तुष्ट है और जिस ने इन्द्रियगण को जीता है तथा ढेला पत्थर सोना से जिस को समान अर्थात् लेने छोड़ने की बुद्धि जिसे नहीं ऐसा जो निरपेक्ष निर्विकार कूटस्थ कहे अचल के तुल्य निश्चल पुरुष सोई युक्त योगी कहे योगारूढ़ है ॥८॥ और शत्रु मित्र आदि मे जो समदर्शी मनुष्य सो योगी से भी अधिक है यह कहते हैं कि सुहृत् कहे स्वभाव से हित कारी औ मित्र जो स्नेह वशते उपकारी औ अरि कहे घातक जो शत्रु औ उदासीन अर्थात् उपकार अपकार दोनो से अलग निरपेक्ष जो औ मध्यस्थ कहे पक्षपात विना दोनो

न्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपिचपापेषुसमबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥ यो-
गीयुञ्जीतसततमात्मानंरहसिस्थितः। एकाकीयतचित्तात्मानिराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौदेशेप्रतिष्ठाप्यस्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरम्
॥ ११ ॥ तत्रैकाग्रंमनःकृत्वायतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासनेयुञ्ज्याद्योगमात्म
विशुद्धये ॥ १२ ॥ समंकायशिरोग्रीवंधारयन्नचलंस्थिरः। संप्रेक्ष्यनासिकाग्रंस्वं

भाषा अनुवाद

और हितकारी औ द्वेष अर्थात् निःप्रयोजन शत्रु जो अकारण क्रोधी औ बन्धु
जिन से कुछ सम्बन्ध है औ साधु कहे सुशील सुन्दर आचरण जिन का है तथा
पाप जो दुराचारी इन सब के विषे जिस की बुद्धि समान कहे प्रीति विरोध
रहित है सो विशिष्ट कहे योगी से अधिक है ॥ ९ ॥ योगी के लक्षण कहि कर
अब उस का अङ्गरूप जो योग सो इस श्लोक से ले कर इसी अध्याय के स योगी
परमोमतः इस ३२ श्लोक तक कहते हैं कि योग आरूढ़ पुरुष सङ्ग रहित होय
जिस के अन्तःकरण औ शरीर वशीभूत हैं सो निराकांक्ष सर्व्व परिग्रह रहित
एकान्तक मे अकेला सावधान बैठि कर अपने आत्मा कहे मन को निरन्तर
भगवत के मनन मे युक्त करै ॥ १० ॥ उसी योग का आसन औ नियम आदि
दिखावते हुये दो श्लोक से कहते हैं कि पवित्र स्थान मे अपने आसन पर बैठने
के अनन्तर योग अभ्यास करै आसन कैसा चाहिये कि जो अचल औ न बहुत
ऊंचा न अति नीचा होय और चैल कहे वस्त्र अजिन व्याघ्रचर्म्म अर्थात् नीचे
कुश तब चर्म्म उपर वस्त्र ऐसा आसन करै ॥ ११ ॥ और जिस का चित्त औ
इन्द्रिय निष्क्रिय कहे व्यापार रहित हैं सो मन की शान्ति कहे शुद्धि के अर्थ
उक्त आसन पर बैठने के बाद मन को एकाग्र विक्षेप रहित कर के योग अभ्यास
करै ॥ १२ ॥ अब चित्त को एकाग्रता के उपयोगी जो देह धारणादि सो दो
श्लोक से कहते हैं कि काय कहे शरीर का मध्यभाग औ शिर ग्रीवा अर्थात् मूल
आधार से ले कर मस्तक पर्य्यन्त शरीर अति यत्न से सीधी राखि के औ निश्चल
कर धारणा के बाद अपनी नासिका के अग्रभाग मे अर्द्ध उन्मीलन पूर्व्वक दोनो
दृष्टि लगाय समाहित सावधान होय और दिशों मे दृष्टि न देय ॥ १३ ॥ जिस

दिशश्चानवलोकयन्॥ १३ ॥ प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संय-
म्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४ ॥ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥ नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमन-
श्नतः। न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य
कर्म्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥ यदा विनियतं चित्तमात्म-

भाषा अनुवाद

का चित्त प्रशान्त और जो निर्भय औ ब्रह्मचर्य्य व्रत में स्थित होके अपने मन को सब तरफ से खींच मेरे मे लगाया है और जिस को नहीं परम पुरुषार्थ रूप कहे इष्ट देव हौं ऐसा मत्परायण पुरुष उक्त मत योग मे समाहित रहता है ॥ १४ ॥ अब योगाभ्यास करने का फल कहते हैं कि पूर्व्वोक्त प्रकार से सदा आत्मा मे मन को युक्त करते करते नियत कहे निरुद्ध है मानस अर्थात् चित्त जिस का सोई शान्ति कहे संसार निवृत्ति को प्राप्त होता है यह शान्ति कि स्वरूप है सो कहते हैं कि जिस से परम निर्व्वाण प्राप्त होय है सोई शान्ति औ मत्संस्था कहे मेरे रूप मे अवस्थिति सो भी उस के मिलै है ॥ १५ ॥ योगा-भ्यासी को आहार शयन आदि का नियम कहते हैं कि हे अर्जुन अत्यन्त अधिक आहारी और अत्यन्त निराहारी इन दोनो को भी योग जो समाधि सो नहीं हो सकती है और अति निद्रा करनेवाला तथा निद्रा त्यागी इन को भी समाधि नहीं होती है ॥ १६ ॥ तो फेरि कैसे पुरुष को समाधि हो सकती है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि नियमरूप आहार औ विहार है जिस का तथा कर्मो मे परिमित चेष्टा कहे व्यापार हैं जिस का और यथा उचित हैं सोवना जागना जिस का उसी को योग कहे समाधि होती है और दुख दूर करती हैं ॥ १७ ॥ कौन समय मे योगसम्पन्न अर्थात् समाधि सिद्ध होगा सो कहते हैं कि जब पुरुष का चित्त एकाग्र कहे अच्छी तरह सब ओर से रुक कर अर्थात् बाह्य कहे बाहर के सकल विषयों को छोड़ि कर केवल आत्मा मे निश्चल रूप से लगै अर्थात् अपने आत्मा मे स्थिति करै और सब मनोरथ की इच्छा न रहे अर्थात् देखी सुनी जो सांसारिक विषय तिन की कामना मे स्पृहा कहे तृष्णा न उठै तब वह योग सिद्ध

न्येवावतिष्ठते । निस्पृहः सर्व्वकामेभ्योयुक्तइत्युच्यतेतदा ॥१८॥ यथादीपोनिवातस्थो नेङ्गतेसोपमास्मृता । योगिनोयतचित्तस्ययुञ्जतोयोगमात्मनः ॥ १९ ॥ यत्रोपरमते चित्तंनिरुद्धंयोगसेवया । यत्रचैवात्मनात्मानंपश्यन्नात्मनितुष्यति ॥२०॥ सुखमात्यन्ति-

भाषा अनुवाद

कहे युक्त समाहित कहा जाता है सोई कहा कि यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाव-तिष्ठते इति ॥ १८ ॥ आत्माकाराकारित रूप अवस्थित चित्त कहे आत्म रूप ता को प्राप्त जो चित्त तिस का दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे निर्वात स्थान मे दीप शिखा हलचल नहीं होतो सोई उपमा कहे दृष्टान्त जानो यह किस का दृष्टान्त है जो पूछो तो कहते हैं कि आत्मविषयक योगाभ्यासो योगी पुरुष जिस का चित्त वशी-भूत है उसी का चित्त निर्वात स्थान स्थित दीपशिखा के समान आत्मा मे स्थिर है यहां चित्त शब्द का अर्थ अन्तःकरण है सो अन्तःकरण वृत्ति भेद से चारि प्रकार का है सङ्कल्पात्मक कहे सङ्कल्परूप अन्तःकरण की वृत्ति कहे स्वभाव को मन कहते हैं और निश्चयात्मक अन्तःकरण की वृत्ति को बुद्धि कहते और अनु-सन्धान कहे किसी वस्तु के जानने के लिये तद्वस्तुरूप हो रहना अनुसन्धानात्मक अन्तःकरण वृत्ति को चित्त कहते हैं और अभिमान युक्त अन्तःकरण अहङ्कार कहा जाता है ॥१९॥ यत्सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तद्विद्धि पाण्डव इसी अध्यायके इस दूसरे श्लोक से योग ही को कर्म कहा है और नात्यश्नतस्तुयोगोऽस्ति इस सोलहें श्लोक से योग शब्द से समाधि कहा तो इस मे मुख्य योग किस को कहें इस अपेक्षा मे फल औ स्वरूप तथा लक्षण क्रम से समाधि हो मुख्य है यह साढे तीनि श्लोक से कहते हैं कि जिस अवस्था मे योगाभ्यास से निरुद्ध कहे एकाग्र चित्त होता है और जिस अवस्था मे आप आप अपने स्वरूप को देखते हुये सन्तुष्ट होता है ऐसो जो समाधि कहे चित्तवृत्ति की एकाग्रता सोई योग है यही पात-ञ्जलसूत्र से कहा कि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २० ॥ आत्मसन्तोष का हेतु कहते हैं कि जिस अवस्था विशेष मे योगीजन कोई निरतिशय कहे अत्यन्त नित्य सुख रूप का अनुभव करते हैं जो कहो कि उस अवस्था मे तो विषय सम्बन्ध का अभाव है तो सुख का सम्भव कैसे होय तिस पर कहते हैं कि विषय इन्द्रिय

कंयत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्तियत्रनचैवायंस्थितश्चलतितत्त्वतः ॥२१॥ यंलब्ध्वाचापरंलाभंमन्यतेनाधिकंततः। यस्मिन्स्थितोनदुःखेनगुरुणापिविचाल्यते ॥ २२ ॥ तंविद्याद्दुःखसंयोगवियोगंयोगसंज्ञितम्। सनिश्चयेनयोक्तव्योयोगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥ सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वासर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामंविनियम्यसमन्ततः ॥ २४ ॥ शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्याधृतिगृहीतया। आत्मसंस्थंमनःकृत्वानकिञ्चिदपिचिन्तयेत् ॥२५॥ यतोयतोनिश्चलतिमनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो

भाषा अनुवाद

सम्बन्ध से रहित जो केवल आत्माकाररूप बुद्धि से ग्रहण के योग्य है इसी से उस मे स्थित होय योगी आत्मरूप से विचलित नहीं होते हैं ॥ २१ ॥ उसी का अचलत्व प्रतिपादन करते हैं कि आत्म आनन्द सुख जो आत्मस्वरूप लाभ लक्षित कहे पाय करि और लाभ फेरि उस से अधिक नहीं गनते और जिस मे स्थित होय बडे बडे शीत उष्ण आदि दुख से भी दुखी नहीं होते अर्थात् बडे दुख भी उस का कुछ नहीं कर सकते हैं ॥ २२ ॥ ऐसी दुख संयोग के अभाव अवस्था विशेष को योग संज्ञा जानो दुख शब्द से विषयसुख जो हैं उन को ग्रहण करते हैं अर्थात् जिस अवस्था मे दुख का लेश मात्र भी नहीं है सोई अवस्था योग है इस से स्थिर चित्त होय कर निश्चय से योग अभ्यास करना अवश्य ही कर्त्तव्य है निर्वेद शब्द का अर्थ तो यत्न करने मे शैथिल्य है सोई कहा कि अनिर्विण्णचित्त होय अर्थात् शैथिल्य छोड़ि यत्न पूर्वक अभ्यास करै ॥ २३ ॥ सङ्कल्प से प्रभव कहे प्रगट जो योग मे प्रतिकूल कहे विरोधी वाधकरूप सकल कामना उन को वासना समेत त्याग करि के विषयों के दोष देखता हुआ पुरुष मन के द्वारा सर्वत्र धावमान इन्द्रियों को सब ओर से दमन करि के योगाभ्यास करै अथवा सर्व्वत्र भावती हुई इन्द्रियों को मन हीं से रोंक कर योग करै ॥ २४ ॥ और जो मन पूर्व्व जन्म कृत कर्म के संस्कार से चलविचल होय तौ भी धारणा जो धैर्य्यरूप बुद्धि शक्ति तिस से स्थिर करै यह कहते हैं कि धारणा से वशीभूत जो बुद्धि तिस से मन को आत्मा मे अच्छी तरह स्थापन करि के उपरम करै अर्थात् फेरि न कुछ चिन्तन करै परन्तु यह भी शनैःशनैः कहे धीरे धीरे धैर्य्यवती बुद्धि के द्वारा क्रम से

नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥ प्रशान्तमनसंह्येनयोगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥ सुर्व्वभूतस्थमात्मानं सर्व्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्व्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥ यो मां पश्यति सर्व्वत्र सर्व्वञ्च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥ सर्व्वभूतस्थितं यो मां भजत्येक-

भाषा अनुवाद

मन को आत्मा मे स्थिर करै और सहसा कहे जलदी न करै ॥२५॥ फिरि भी जो रजोगुण वशते मन विचलित होय तो फेरि फेरि उस को अपने वश करना यह कहते हैं कि स्वभाव ही से चञ्चल मन धारणा को इच्छा करते भी जो चञ्चल होय तो जिस जिस विषय मे गमन करै उसी उसी विषय से खैंचि करि आत्मा ही मे थिर करै ॥ २६ ॥ इस प्रकार मन औ इन्द्री के वशकारी पुरुष को रजोगुण की क्षय होने से परे योग-सुख प्राप्त होता है सोई कहते हैं कि पूर्व्वोक्त रीति से जिस का रजोगुण नाश भया औ अच्छी तरह मन भी शान्त भया है सोई पाप रहित प्रक्षीण मोह तथा ब्रह्म भाव को प्राप्त योगी उत्तम समाधि सुख को अनायास पावता है ॥ २७ ॥ अब योगीजन की कृतार्थता कहते हैं कि इसी प्रकार सर्व्वदा मन वशीभूत कारी पुरुष जिस का सम्पूर्ण पाप दूर भया है सोई योगी अनायास ब्रह्मसंस्पर्श अर्थात् अविद्या निवृत्तिकारी जो प्रत्यक्ष ब्रह्मज्ञान सर्व्वोत्तम सुख सो पावते अर्थात् जीवन्मुक्त होते हैं ॥ २८ ॥ ब्रह्म साक्षात्कार रूप अपरोक्ष ज्ञान कैसा होता सो देखावते हैं कि योग युक्तात्मा पुरुष ब्रह्म से ले स्थावर पर्य्यन्त मे समदर्शी सर्व्वभूत कहे प्राणी मात्र मे अपने को देखता और यावत् जीवों को भी अपने मे देखता है अर्थात् अविद्याकृत देहादि भेद दूर होय ब्रह्ममय ज्ञानवान सर्व्वत्र समदर्शी होता है ॥२९॥ अब पूर्व्वोक्त ज्ञानी को जो फल होता है कि साक्षात् परमेश्वर जो मै तिस को यावद्वस्तु मात्र सब मे और सकल यो कुछ है सो मेरे मे जो देखता है तो उस का हम अदृश्य नहीं और हम को वह भी अदृश्य नही अर्थात् हम प्रत्यक्ष होय कृपादृष्टि से उस पर अनुग्रह करते हैं ॥३०॥ एवम्भूत पुरुष विधि कहे कर्म्म के आधीन नहीं हैं कि सर्व भूत मे वर्त्तमान

त्वमास्थितः। सर्व्वथावर्त्तमानोऽपिसयोगीमयिवर्त्तते ॥३१॥ आत्मौपम्येनसर्व्वत्रसमं पश्यतियोऽर्ज्जुन। सुखंवायदिवादुःखंसयोगीपरमोमतः ॥ ३२ ॥ अर्ज्जुन उवाच। योऽयंयोगस्त्वयाप्रोक्तःसाम्येनमधुसूदन। एतस्याहंनपश्यामिचञ्चलत्वात्स्थितिंस्थिराम्॥३३॥ चञ्चलंहिमनःकृष्णप्रमाथिबलवद्दृढम्। तस्याहंनिग्रहंमन्येवायोरिवसुदुष्करम्॥३४॥ श्रीभगवानुवाच। असंशयंमहाबाहोमनोदुर्निग्रहंचलम्। अभ्या-

भाषा अनुवाद

जो मै तिस को एक बुद्धि कहे एक मोहिं छोड़ और बुद्धि नहीं है जिस के सो मेरे ही को आश्रय करि भजता है सो योगी तत्त्वज्ञानी सकल कर्म्म परित्याग करि के सर्व्वथा वर्त्तमान कहे जीवित दशा मे भी मेरे मे प्राप्त है अर्थात् सायुज्य गति को प्राप्त है॥ ३१ ॥ और ऐसे योगीजनों के बीच मे जीवों पर अनुग्रह करनेवाला श्रेष्ठ है सो कहते हैं कि हे अर्ज्जुन जो अपनी उपमा कहे और सब मे भी अपने समान सुख या दुख तथा प्रिय अप्रिय देखता है और सब को सुख को इच्छा करता दुख नही देख सकता है सोई योगी श्रेष्ठ है॥ ३२ ॥ ऐसे योग के लक्षण भगवान से शुनि करि असम्भव जानि अर्ज्जुन कहते हैं कि मन की लय औ विक्षेप शक्ति दूर करि केवल आत्मा मे जो अवस्थान कहे सम भाव से मन का थिर हो रहना रूप योग आप ने कहा सो हे मधुसूदन मन की चञ्चलताई के हेतु हम को इस योग की दीर्घ काल अवस्थिति कहे थिर रहना देख पड़ता नहीं है॥३३॥ और वही चञ्चलता को विस्तार करि कहते हैं कि कृष्ण यह मन स्वभाव ही से चञ्चल औ प्रमाथी अर्थात् देह इन्द्रियों को विक्षिप्तकारी और बलवान कहे विचार से इस का जीतना असाध्य है तथा दृढ़ कहे विषयवासना से बद्ध इस मन को विषयों से भिन्न करना अति दुष्कर कठिन है इस से जैसे आकाश मे वायु को निश्चल करना कठिन तैसे इस मन का जो निग्रह कहे थिर करना हम को अति असाध्य बोध होता है ॥ ३४ ॥ अर्ज्जुन की कही मन की चञ्चलता अङ्गीकार करि भगवान उस के निग्रह करने की उपाय कहते हैं कि हे महाबाहो हां मन की चंचलता रोंकना कठिन यह जो तुम कहते हो सो निःसन्देह ठीक है पर तौ भी हे कौन्तेय अभ्यास के द्वारा

र्येनतुकौन्तेयवैराग्येणचगृह्यते ॥ ३५ ॥ असंयतात्मनायोगोदुष्प्राप्यइतिमेमतिः । वश्यात्मनातुयतताशक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥ अर्जुन उवाच । अयतिःश्रद्धयो- पेतोयोगाच्चलितमानसः । अप्राप्ययोगसंसिद्धिंकांगतिंकृष्णगच्छति ॥३७॥ कच्चि न्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिवनश्यति । अप्रतिष्ठोमहाबाहोविमूढोब्रह्मणःपथि ॥३८॥

भाषा अनुवाद

मन परमात्माकार वृत्ति मे विषयों की वैराग्य वशते निग्रहीत हो सकै है अभ्यास से लय और वैराग्य से विक्षेप ये दोनो दूर होय यह मन निवृत्त होय परमात्मा कारता पाय करं थिर होता है क्यों कि योगशास्त्र मे कहा है कि वृत्ति शून्य मन की ब्रह्माकाराकारित रूप स्थिति होती है उसी को निर्विकल्पक समाधि करते हैं ॥ ३५ ॥ और संयत आत्मा को योग प्राप्ति सुलभ है यह कहते हैं कि उक्त रीति से अभ्यास औ वैराग्य के द्वारा जिस का चित्त वश नहीं है उस को यह योग दुःप्राप्य है और जिस का चित्त वशीभूत है और जो पूर्व्व कथित उपाय से यत्न करता है वह मेरे मत से योग प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥ अभ्यास वैराग्य के अभाव से या और कोई प्रकार उपाय से जिस को तत्त्वज्ञान न भया ऐसा मनुष्य कौन फल पाय सकता है औ किस गती को जाता है यह प्रश्न अर्ज्जुन करते हैं कि हे कृष्ण जो प्रथम कपट रहित श्रद्धा युक्त होय योग मे प्रवृत्त भया परन्तु तिस पीछे यत्न न किया अर्थात् अभ्यास मे शिथिल कहे ढीला रहा और जिस का मन विषय मे मग्न रहा कहे विषय से विराग न भया ऐसा मनुष्य योग संसिद्धि जो ज्ञान रूप फल तिस को न प्राप्त होके किस रूप गति को पाय सकता है अर्थात् कौन गति को जाता है ॥ ३७ ॥ पूर्व्वोक्त प्रश्न की अभिप्राय विस्तार से अर्ज्जुन कहते हैं कि न तो निष्काम कर्म्म करि ईश्वर को समर्पण किया और न काम्य कर्म ही का अनुष्ठान किया तो स्वर्गादि फल से भी रहित हो रहा और योग की असम्पन्नता कहे अपूर्णता से मोक्ष भी न मिली तो फेरि हे महा- बाहो वह अप्रतिष्ठित कहे प्रतिष्ठा रहित मनुष्य दोनो ओर से भ्रष्ट होय छिन्न मेघ के समान क्या नष्ट तो नहीं होता है जैसे मेघ दल से भिन्न भया मेघ और मेघ को न प्राप्त होय के अन्तरीक्ष ही मे विलाय जाय है ॥ ३८ ॥ जिस से आप

एतन्मेसंशयंकृष्णछेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यःसंशयस्यास्यछेत्तानह्युपपद्यते॥ ३९ ॥
श्रीभगवानुवाच। पार्थनैवेहनामुत्रविनाशस्तस्यविद्यते। नहिकल्याणकृत्कश्चिद्-
दुर्गतिंतातगच्छति॥ ४० ॥ प्राप्यपुण्यकृतांलोकानुषित्वाशाश्वतीःसमाः। शुचीनां
श्रीमतांगेहेयोगभ्रष्टोऽभिजायते॥४१॥ अथवायोगिनामेवकुलेभवतिधीमताम्। एत-
द्धिदुर्लभतरंलोकेजन्मयदीदृशम्॥४२॥ तत्रतंबुद्धिसंयोगंलभतेपौर्वदैहिकम्। यत

भाषा अनुवाद

सर्व्वज्ञ हौ इस से आप को छोड़ और कोई इस हमारी संशय का दूर करने-
वाला नहीं है अर्ज्जुन यही कहते हैं कि हे कृष्ण मेरी इस सन्देह को आप ही
छेदन करने के योग्य हौ और आप के बिना दूसरा इस सन्देह का निवृत्ति कर्त्ता
नही है सो इस सन्देह को कृपा कर मेरे मन से दूर करो॥३९॥ अर्ज्जुन की इस
प्रश्न का उत्तर श्रीभगवान साढे चारि श्लोक से कहते है कि हे पार्थ उस अधूरे
योगाभ्यासी को योग भ्रष्ट होने से यह लोक नाश कहे इस लोक मे पातक और
परलोक मे नरक प्राप्ति यह दोनो भी नहीं होय हैं जिस हेतु किसी कल्याण कृत
कहे शुभ आचरण करनेवाला पुरुष तात कहे हे भाई अर्ज्जुन दुर्गति को
नहीं प्राप्त होता है तात शब्द से लोक रीति देखावते भये भगवान ने स्नेह-
पर्व्वक अर्ज्जुन को सम्बोधन करि के कहा है॥ ४० ॥ तो फेरि वे योग भ्रष्ट
लोग किस गति को जाते हैं इस अपेक्षा पर कहते हैं जिस स्वर्ग आदि लोक
को अश्वमेध आदिक यज्ञ करि के मनुष्य जाते हैं पुण्यकर्म्मकारी योगभ्रष्ट पुरुष
भी उसी उत्तम लोक मे जाय कर बहुत बरष तक वहां बसि सुख भोग
करि के फेरि सत् कर्म्मकारी धनी लोगों के घर मे आय जन्म ग्रहण करते हैं
॥ ४१ ॥ थोडे दिन योगाभ्यास करि के योग से भ्रष्ट भये हुये पुरुष की गति
कहि चुके अब बहुत काल अभ्यास कर के भ्रष्ट हुये योगी की गति कहते हैं कि
अथवा सत्पात्र धनियों के घर जन्म लेने से और जो दरिद्र बुद्धिमान योगाभ्यासियों
के कुल मे जन्मग्रहण है सो उत्तम है ऐसा जन्म लोक मे अति दुर्लभ है सो
चिरकाल योगाभ्यासी योग भ्रष्ट होय ऐसे ही घर मे उत्पन्न होते हैं॥ ४२ ॥
सोई जन्मग्रहण के बादि क्या होता है यह डेढ़ श्लोक से कहते हैं कि हे कुरु

तेचततोभूयःसंसिद्धौकुरुनन्दन ॥ ४३ ॥ पूर्व्वाभ्यासेनतेनैवह्रियतेह्यवशोऽपिसः। जिज्ञासुरपियोगस्यशब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥ प्रयत्नाद्यतमानस्तुयोगीसंशुद्ध किल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयातिपरांगतिम् ॥ ४५ ॥ तपस्विभ्योऽधिकोयोगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः। कर्म्मिभ्यश्चाधिकोयोगीतस्माद्योगीभवार्ज्जुन ॥ ४६ ॥

भाषा अनुवाद

नन्दन तेई दोनो प्रकार के योग भ्रष्ट लोग जन्म धारण करि के भी पूर्व देह के अभ्यास से ब्रह्म विषयक बुद्धि संयोग युक्त होते हैं और फेरि भी मोक्ष को सिद्धि के लिये अधिक यत्न करते हैं ॥ ४३ ॥ वह पूर्व देह का बुद्धि संस्कार कैसा है और उस का कारण यह हैं कि सोई पूर्व देह की अभ्यास से अवश अर्थात् जो कोई कारण या विघ्न वशते इच्छा न भी होय तौ भी मोक्ष सिद्धि के अर्थ पूर्व संस्कार के जोर से अवश की नाईं यत्न करते हैं अर्थात् विषयों से विमुख हो ब्रह्मनिरत होते हैं। और इस तरह पूर्व अभ्यास के कारण से मुक्ति के अर्थ यत्नकारी मनुष्य जिस क्रम से मुक्त होते हैं सो कैमुत्तिक न्याय से डेढ़ श्लोक के द्वारा कहते हैं कि जिज्ञासु कहे योग स्वरूप जानने की इच्छा करनेवाला कुछ केवल योग ही को नहीं प्राप्त होता किन्तु योगप्रसिद्ध मनुष्य पाप वशते योग भ्रष्ट होय भी शब्दब्रह्म जो वेद तिस को अति वर्त्तन करता अर्थात् वेदोक्त फल की अपेक्षा अधिक फल को प्राप्त होय के फेरि मुक्त होता है। इतना हीं नहीं इस से भी अधिक इस को कैमुत्तिक न्याय कहते हैं॥ ४४ ॥ जिस हेतु मन्द यत्नकारी योगी श्रेष्ठगति प्राप्त होते हैं तो उत्तरोत्तर योग मे अधिक यत्न करते वै योग से निष्पाप होय अनेक जन्म संचित योग से संसिद्ध अर्थात् सम्यक् ज्ञानी होय श्रेष्ठ गति पावेङ्गे इस मे और कुछ कहना या सन्देह वा को है। सोई कहा कि अच्छी तरह से यत्न करता योगी तौ संसिद्ध किल्बिष निःपाप अनेक जन्म से सम्यक् सिद्ध होय फेरि परम गति को याता हैं ॥ ४५ ॥ जिस कारण ऐसा है कि कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप मे निरत औ शास्त्र से जो ज्ञानी इन से भी योगी अधिक है तथा यज्ञ कुंवां ताल बागदान कर्म्मकारी जो कर्मी पुरुष तिस से भी अधिक है हमारे मत मे योगी इस से हे अर्जुन योगी होउ ॥ ४६ ॥ योगियों के मध्य अर्थात् यम नियम

योगीनामपिसर्व्वेषांमद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजतेयोमांसमेयुक्ततमोमतः ॥
४७ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां योगशास्त्रनाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भाषा अनुवाद

परायण लोगों के बीच मे मेरा भक्त ही श्रेष्ठ है यह कहते हैं कि मै जो परमेश्वर सो मद्गत अर्थात् मेरे मे मन लगाय श्रद्धा से जो हम को भजै है मेरे मत मे सोई श्रेष्ठ इस से अर्ज्जुन तुम मेरे भक्त होउ । श्रीधर स्वामी प्रभु को प्रणाम करते हैं कि परमानन्द भक्त सेवित लक्ष्मीपति की मैं वन्दना करता हूं जिस ने भक्तियोग शिरोमणि रूप आत्मयोग उपदेश किया है ॥४७॥ इति जगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी टीकायां योगशास्त्रनाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता ।

सप्तम अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः । असंशयं समग्रं
मां यथाज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः । यज्ज्ञा-
त्वानेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥ मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

भाषा अनुवाद

अब इस अध्याय मे भजनीय ईश्वर का स्वरूप कहते हैं कि जो पूर्व्व अध्याय के अन्त मे कहा कि मदात्मक होय जो मेरो भजन करै है सो उत्तम है इस पर जो कहो कि सो भगवान कैसे हैं जिन को भक्ति करना चाहिये इस अभिप्राय पर अपने स्वरूप का निरूपण करने के अर्थ श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन मेरे मे जिस का मन लगा है और मैहीं हौं अवलम्ब जिसके ऐसा अनन्य शरणागत भक्त होय योगाभ्यास करने के अनन्तर संशय रहित समग्र कहे विभूति बल ऐश्वर्य्य सहित मेरे रूप को जैसे जानि सकैगा सोई मेरे वचन तुम मन दै श्रवण करो ॥१॥ अब भगवान जो आप कहते हैं उसी की प्रशंसा करते हैं कि विज्ञान जो अनुभव और ज्ञान जो शास्त्र से मेरे विषय मे होता है ये दोनो मै तुमारे प्रति कहूंगा जो जानि कै मुक्तिमार्ग मे आरूढ़ पुरुष को और फेरि कुछ जानना बाकी नहीं रहता है इसी से वे कृतारथ होते हैं ॥ २ ॥ हमारी भक्ति विना हमै जानने सकै यह अति दुर्लभ है सोई कहते हैं कि असंख्य जीवों के मध्य मे मनुष्य छोड़ि और किसी को मोक्ष के विषय मे प्रवृत्ति नहीं होती है और हजार मनुष्य के वीच कोई एक पुण्य के प्रभाव से आत्मज्ञान के हेतु यत्न करता है ऐसे ही यत्न

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥ भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धि-
रेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं
विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्॥ ५॥ एतद्योनीनि भूतानि
सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥ मत्तः परतरं नान्यत्-

भाषा अनुवाद

कारी हजार के मध्य कोई एक अति उत्तम पुण्य वशते अपने को जानि सके है
और ऐसे आत्मज्ञानी हजार के बीच मे कोई एक मेरी कृपा से परमात्मा स्वरूप
मुझे यथार्थ रूप से जानै है सोई अति कठिन ज्ञान हम तुम से कहेंगे॥ ३॥
इन बातों से श्रोता अर्जुन को उत्साहयुक्त कर के अब प्रकृति जो माया तिस के द्वारा
सृष्टि आदि का कर्तृत्व जो अङ्गीकार किया है ईश्वरत्व उस का निरूपण उत्तम
अधम भेद क्रम से दो श्लोक के द्वारा कर्त्ते हैं कि भूमि आदि शब्द से पञ्चभूत और
मन शब्द से मन का कारण रूप अहङ्कार तथा बुद्धि का कारण महत् तत्त्व औ
अहङ्कार की कारणभूत जो अविद्या कहे अज्ञान इस प्रकार से मेरी प्रकृति माया
आठ प्रकारकी है अथवा पंचभूत से रूपादि पंच मात्रा और अहङ्कार से कार्यरूप
इन्द्रिय औ मन बुद्धि ये आठ प्रकार जानो यद्यपि इहां चौविश भेदों को इन आठ
के अन्तर्भूत करि के माया के आठ ही प्रकार कहा है तौभी जो तेरहवां क्षेत्रा-
ध्याय तहां प्रकृति के चौविश ही तत्त्वरूप विभाग कहैंगे॥ ४॥ अपर कहे आठ
प्रकार निकृष्ट प्रकृति कहि कै अब पर कहे उत्कृष्ट प्रकृति को कहते हैं कि हे
महाबाहो यह पूर्व्व कही जो अष्ट प्रकार की प्रकृति सो अपर कहे निकृष्ट
है क्यों कि वह जड़ औ उत्तम प्रकृति के आधीन है किन्तु और पर कहे
उत्कृष्ट मेरि प्रकृति व्यवहारिक जीवस्वरूप इस प्रकृति से भिन्न जानो जो इस
जगत् को धारण करती है अर्थात् इस के उत्कृष्टता मे कारण यह है कि
जीवस्वरूप वही चैतन्यशक्ति कर्तृक स्वकर्म्म के द्वारा यह संसार स्थित है॥ ५॥
प्रकृति के पर औ अपर ये दो भेद देखाय कै अब प्रकृति के द्वारा सृष्टि आदि मैं
आप ही कारण हैं सोई कारणत्व कहते हैं कि हे धनञ्जय क्षेत्र कहे शरीर औ
क्षेत्रज्ञ कहे जीव यह जो दो प्रकार की प्रकृति है योनि कहे कारण जिन का

किञ्चिदस्तिधनञ्जय। मयिसर्व्वमिदंप्रोतंसूत्रेमणिगणाइव॥ ७॥ रसोऽहमप्सु
कौन्तेयप्रभाऽस्मिशशिसूर्य्ययोः। प्रणवःसर्व्ववेदेषुशब्दःखेपौरुषंनृषु॥ ८॥ पुण्योगन्धः
पृथिव्याञ्चतेजश्चास्मि विभावसौ। जीवनंसर्व्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥
बीजंमांसर्व्वभूतानांविद्धिपार्थसनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मितेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

भाषा अनुवाद

ऐसे स्थावर जङ्गम यावत् भूत इसी कारण से उत्पन्न हैं यह जानो और विशेष यही है कि जड़रूप निकृष्ट प्रकृति देहरूप अनेक रूप पावती है और मेरा अंश जो चैतन्य सो भोक्तारूप शरीर मे प्रवेश कर के अपने कर्म्म के अनुसार अनेक देह धारण करता रहता है और यह प्रकृति हमी से उत्पन्न है इस कारण से सम्पूर्ण जगत् के प्रभव कहे उत्पन्न करनेवाले औ प्रलय कहे संहारकर्त्ता भी हम हीं है॥६॥ सो हे धनञ्जय इसी से हम से भिन्न और कोई भी जगत की सृष्टि औ संसार का श्रेष्ठ स्वतन्त्र कारण नहीं है और स्थिति के हो हेतु हम हैं यह कहते हैं कि मेरे ही मे समस्त जगत ग्रथित है जैसे सूत मे मणिगण रहते औ कपड़े मे सूत ओत प्रोत रहते हैं॥ ७॥ इस श्लोक से ले कर पांच श्लोक तक जगत् की स्थिति का कारण विस्तार करि कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्त्र अर्ज्जुन जल मे रस रूप औ चन्द्र सूर्य्य मे प्रकाशरूप और वेद मे मूलभूत प्रणव ओंकाररूप मै हीं हूं तथा आकाश मे शब्दरूप औ पुरुषों मे पौरुष कहे उद्यमरूप भी मै हीं हूं यह जानो॥ ८॥ और पवित्त गन्धरूप माता पृथिवी मे औ तेजरूप अग्नि मे तथा जीवनरूप सर्वभूत कहे प्राणियों मे औ तपस्वियों मे तपरूप मै हीं हूं अर्थात् मेरी हो विभूति है॥९॥ और हे पार्थ स्थावर जङ्गम जो कुछ भूत मात्र है उस का सनातन कहे उत्तरोत्तर समस्त कार्य्य मे अनुगत कहे प्राप्त अनाशी बीजरूप हमे जानो अर्थात् समान जातीय कार्य्य उत्पादन सामर्थ्य रूप जो कारण सो भी मेरी ही विभूति जानो परन्तु सामान्य बीज जैसे अंकुर होने पर नष्ट होते हैं तैसे मेरा विभूतिरूप बीज नाश नहीं होता इसी से सनातन है और बुद्धिमानो की बुद्धि कहे विवेकशक्ति मैहीं हौं और तेजस्वीयों मे तेज कहे प्रगल्भता प्रतापरूप भी मैहीं हूं यह जानो॥१०॥ और काम राग विवर्जित अर्थात् काम कहे अप्राप्त

बलंबलवतांचाहंकामरागविवर्जितम्। धर्माविरुद्धोभूतेषुकामोऽस्मिभरतर्षभ ॥ ११ ॥
येचैवसात्त्विकाभावाराजसास्तामसाश्चये। मत्तएवेतितान्विद्धिनत्वहंतेषुतेमयि ॥
१२ ॥ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिःसर्वमिदंजगत्। मोहितंनाभिजानातिमामेभ्यः
परमव्ययम् ॥१३॥ दैवीह्येषागुणमयीममामायादुरत्यया। मामेवयेप्रपद्यन्तेमाया

भाषा अनुवाद

विषय मे अभिलाष स्वरूप जो रजोगुण का कार्य्य इच्छा और राग कहे अभिलषित अर्थ पाय के उस मे भी अधिक के अर्थ जो चित्त का अनुराग कहे तमोगुण का कार्य्य तृष्णारूप इच्छा है इन दोनो को छोड़ि और यावत् बलवानों का बल भी मै हौं अर्थात् सात्त्विक स्वधर्मानुष्ठान की सामर्थ मै हूं और हे भरतर्षभ भरत वंश मे श्रेष्ठ अर्जुन धर्म्म अविरुद्ध अर्थात् स्वभार्य्या मे पुत्रमात्र उत्पन्न के अर्थ उपयोगी जो काम भोग सो भी मैहौं हूं धर्म्म अविरुद्ध कहने से बध आदि काम का निषेध आया ॥ ११ ॥ और जो सात्त्विक भाव अर्थात् शम दम आदि और राजस भाव कहे हर्ष गर्व्व आदि औ तामस भाव जो शोक मोहादि ये सब प्राणी मात्र को स्वकर्म्म वशते जन्मे हैं सो मेरे उत्पन्न जानो जिस हेतु वै मेरी माया के तीन गुणों के कार्य्य हैं किन्तु तौ भी उन मे हम वर्त्तते नहीं अर्थात् जीव के समान गुणों के अधीन होते नहीं बलु ये गुण मेरे अधीन होय मेरे मे रहते हैं सोई कहा कि वे मेरे मे हैं और मै उन मे नहीं यह हौं जैसे संसारी मेरे अधीन हैं यह जानो ॥ १२ ॥ जो कहो कि ऐसे परमेश्वर को किस कारण से लोग नहीं जानते है इस पर कहते है कि पूर्वोक्त यही तीनि प्रकार काम लोभ आदि गुण विकार स्वभाव वशते अविवेकता को प्राप्त प्राणी मोहित होय हम को नहीं जानते हैं और आप कैसे हैं इस अपेक्षा से कहते हैं कि हम ये तीन भाव से पर कहे संसर्ग रहित और इन सब भावों के नियन्ता इसी से अव्यय कहे निर्व्विकार मै हूं ॥ १३ ॥ जो कहो कि तुम को फेरि कौन जानने सकै इस पर कहते हैं कि दैवी कहे अद्भुत औ सत्त्व आदि गुणविकारात्मक मेरी शक्ति जो दुस्तर माया हैं इस को जो अव्यभिचारिणी भक्ति से हमै भजै सोई हमारी माया के पार होके हम को जानि सकै है ॥ १४ ॥ तौ फेरि सब मनुष्य तुम को

मेतांपरन्ति ते ॥ १४ ॥ नमांदुष्कृतिनोंमूढ़ाःप्रपद्यन्तेनराधमाः । मायया प्रहृत-
ज्ञानाअसुरंभावमाश्रिताः ॥१५॥ चतुर्व्विधाभजन्तेमांजनाःसुकृतिनोऽर्ज्जुन । आर्त्तो-
जिज्ञासुरर्थार्थीज्ञानीचभरतर्षभ ॥ १६ ॥ तेषांज्ञानीनित्ययुक्तएकभक्तिर्व्विशि-
ष्यते । प्रियोऽहिज्ञानिनोऽत्यर्थमहंसचममप्रियः ॥१७॥ उदाराःसर्वएवैतेज्ञानी

भाषा अनुवाद

काहे नहीं भजते हैं जो यह कहो तो उत्तर सुनो कि मनुष्यों के मध्य मे जो अधम है तेई मेरो भजन नहीं करते हैं कारण यह कि वे लोग पापपरायण औ मायासे अपहृत ज्ञान अर्थात् शास्त्र या आचार्य्य के द्वारा ज्ञान होने से भी मैं उनको निरस्त कहे निरादर करता हूं और सोरहें अध्याय मे चौथे श्लोक से कहेङ्गे जो आसुर भाव उस को प्राप्त होय मेरी भक्ति नहीं करते हैं ॥ १५ ॥ सत्कर्म्मकारी मनुष्य ही मेरो भजन करते हैं और वै भो पुण्य के न्यून अधि कयातें चारि प्रकार के हैं सोई कहते हैं कि हे अर्ज्जुन जो पूर्व जन्म अवधि पुण्यवान है तेई हम को भजते हैं चारि प्रकार के भक्त ये हैं प्रथम आतुर कहे रोगग्रस्त दूसरा जिज्ञासु कहे आत्मज्ञान की इच्छा हैं जिसे तीसरा अर्थार्थी अर्थात् लोक या परलोक का भोग साधन का अर्थाकांक्षी चौथा ज्ञानी है पर ये चारो पूर्व्व पुण्य के प्रभाव होने से भजते हैं नहीं तो और और देवतों की भक्ति करि अपना काम निकार लेते पर वह काम नहीं है ॥ १६ ॥ परन्तु इन के मध्य मे ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है सोई कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष नित्ययुक्त अर्थात् सर्वदा हो मेरे मे निष्ठ रहता है और केवल महारा ही एक भक्त और ज्ञानी को शरीर आदि मे अहं बुद्धि का अभाव रहने से मन की विक्षेप शक्ति के अभाव से नित्य युक्तत्व उस को है और इस ज्ञानी को अत्यन्त हम प्रिय हैं और वह भी हम को अति प्रिय है इस कारणों से ज्ञानी भक्त उत्तम है ॥ १७ ॥ तो क्या वाको तीनि प्रकार के भक्त संसार गति को प्राप्त होते हैं ऐसी शङ्का को वारवार निषेध करि कहते हैं कि नहीं नहीं भक्त भी उदार कहे महान् है अर्थात् मोक्ष पावने के योग्य हैं परन्तु मेरो यह अभिप्राय कि ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरूप है जिस हेतु वह मदेकचित्त है इस से सर्व्वोत्तम गति रूप हम को ही आश्रय कर के और कोई फल को इच्छा नहीं रख

त्वात्मैवमेमतम्। आस्थितःसहियुक्तात्मामामेवानुत्तमांगतिम्॥१८॥ बहूनांजन्मना-मन्तेज्ञानवान्मांप्रपद्यते। वासुदेवःसर्वमितिसमहात्मासुदुर्लभः॥१९॥ कामैस्तैस्तै र्हृतज्ञानाःप्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। तंतंनियममास्थायप्रकृत्यानियताःस्वया॥ २० ॥ योयोयांयांतनुंभक्तःश्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्यतस्याचलांश्रद्धांतामेवविदधाम्यहम् ॥ २१ ॥ सतयाश्रद्धयायुक्तस्तस्याराधनमीहते। लभतेचततःकामान्मयैवविहि-तान्हितान्॥२२॥ अन्तवत्तुफलंतेषांतद्भवत्यल्पमेधसाम्। देवान्देवयजोयान्ति

भाषा अनुवाद

ता है ॥१८॥ ऐसे भक्त अति दुर्लभ यह कहते हैं कि अनेक जन्म से कुछ कुछ पुण्य सञ्चित कहे इकट्ठो होने से शेष जन्म मे तत्त्वज्ञानी होय कर यह जो चरा-चरात्मक कहे स्थावर जङ्गम रूप ब्रह्माण्ड सो सम्पूर्ण एक वासुदेव मात्र है इस प्रकार सर्व्वत्र आत्मदृष्टि के द्वारा हम को भजता है अपरिच्छिन्न कहे अबाधित दृष्टि से ऐसा महात्मा ज्ञानी दुर्लभ है ॥१९॥ सतो गुणी कामना करि कै जो मनुष्य परमेश्वर ही को भजते हैं तो कामना प्राप्त होय क्रम से मुक्त होते हैं परन्तु जो रजोगुण तमोगुण का आलम्बन कर के कामना के वश होय और और देवतों का उपासना करते हैं तेई संसार गति को पावते हैं इस श्लोक से चौथे श्लोक तक कहते हैं कि जो पुत्र कलत्र धन शत्रुनाश आदि मनोरथ से हतबुद्धि होय भूत प्रेत पिशाच यक्ष क्षुद्र कहे नीच देवतें को पूजते हैं वे नियम उपास बलिदान अङ्गी-कार करि के अपनी कामना की वासना के वश होय प्रकृत्या कहे स्वभाव ही से उन देवतों की सेवा करते हैं ॥ २० ॥ भक्तों के बीच जो जो भक्त मेरी मूर्त्ति-विशेष को याने जिस मूर्त्ति को अर्थात् देवता रूप को श्रद्धा से पूजने मे प्रवृत्त होते हैं उसी उसी भक्त की भावना के अनुसार वह उन की इच्छा अन्तर्यामी रूप से मै पूरा कर्त्ता हौं अर्थात् सोई मूर्त्ति धारण कर उन का इष्ट सिद्ध करता हूं ॥२१॥ सो मेरा भक्त उस अपनी श्रद्धा से उसी देव की पूजा करता है और कामनों को पावता है पर वे कामना मैही देता हूं क्यों कि मै सर्व्व देवमय हौं और देवता मेरे आधीन हैं॥ २२ ॥ अब कहते हैं कि यद्यपि देवता मेरी ही मूर्त्ति है और उन को पूजा भी मेरी ही पूजा हैं तथा कर्म्मफलदाता भी हम हीं हैं पर तौ भी

मद्भक्तायान्तिमामपि ॥२३॥ अव्यक्तंव्यक्तिमापन्नंमन्यन्तेमामबुद्धयः। परंभावमजा
नन्तोममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥ नाहंप्रकाशःसर्वस्ययोगमायातमावृतः। मूढोऽयं
नाभिजानातिलोकोमामजमव्ययम् ॥ २५ ॥ वेदाहंसमतीतानिवर्त्तमानानिचार्ज्जुन।
भविष्याणिच भूतानिमान्तुवेदनकश्चन ॥ २६ ॥ इच्छाद्वेषसमुत्थेनद्वन्द्वमोहेनभा-

भाषा अनुवाद

अल्प बुद्धियों को अन्तवन्त कहे विनाशी फल होता अर्थात् स्वर्ग आदि सांसारिक सुख कुछ दिन के लिये होता है क्यों कि साक्षात् मेरी उपासना नहीं किया है और जो जिस देवता को आराधै है सो उसी को प्राप्त होता और मेरे भक्त जन्म नाश रहित हो कर के मेरे ही को प्राप्त होते हैं॥ २३ ॥ और जो ऐसी शङ्का करो कि ध्यान पूजा आदि प्रयत्न तो समान है और फल मे वैषम्य कहे बड़ा अन्तर हैं तौ फेरि सब देवतों को त्याग करि तुम हीं को क्यों न सब भजैं इस पर कहते हैं कि अल्प बुद्धि मनुष्य प्रपञ्च रहित हम को मत्य कर्म स्वरूप ठहराते हैं इस का कारण यह है कि वे लोग मेरे श्रेष्ठ रूप को नहीं जानते हैं सोई रूप प्रकाशित करते हैं कि जो अव्यय कहे नाश रहित और जिस से और उत्तम नहीं हैं परन्तु संसार की रक्षा के अर्थ लीला से उत्पन्न विशुद्ध सत्त्व प्रधान जो मै तिस को कर्म से उत्पन्न भौतिक कहे पञ्चभूतमय देहधारी और देवता की नाईं जानि कै हमारे प्रति अधिक आदर नहीं करते हैं वलु शीघ्र फलदाता और देवतों को भजते हैं वेई अन्तवन्त फल पावते हैं॥ २४ ॥ मूढ लोगों के अज्ञान मे कारण कहते हैं कि उन लोगों के सामने हम प्रगट नहीं होते परन्तु अपने भक्तों के सामने प्रगट होते हैं क्यों कि मूढ़ लोग मेरी योगमाया से आवृत है तौ फेरि कहो कैसे अव्यय स्वरूप को जानि सकै॥२५॥ मेरे सर्वोत्तम स्वरूप को अज्ञानी लोग नहीं जानते यह जो पूर्व मे कहा सोई स्वस्व रूप की उत्तमता औ अनावृतत्त्व ज्ञान रूपसे देखावते हुये औरों की अज्ञानता कहते हैं कि जिस हेतु हे अर्ज्जुन हम माया के आश्रय हैं इस में भूत काल वर्त्तमान काल औ भविष्यत् काल इन तीनो काल के वर्त्ती चराचर सब हम जानते हैं क्यों कि माया अपने आश्रय को मोह नहीं कर सकती है परन्तु मेरी माया से मोहित कोई भी हमै नहीं जानि सकै

रत सर्व्वभूतानि सम्मोहं सर्गेयान्तिपरन्तप ॥ २७॥ येषामन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम्। तेद्वन्द्वमोहनिर्म्मुक्ता भजन्तेमांदृढ़व्रताः ॥२८॥ जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्ययतन्ति ये। ते ब्रह्मतद्विदुःकृत्स्नमध्यात्मं कर्म्मचाखिलम् ॥२९॥ साधिभूताधिदैवंमांसाधियज्ञञ्चयेविदुः। प्रयाणकालेपिचमांतेविदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥ इति

भाषा अनुवाद

हैं माया अपने आश्रय के अधीन तथा औरो को मोहती हैं यह प्रसिद्ध है ॥ २६ ॥ माया से मोहित जीवों को परमेश्वर विषयक ज्ञान का अभाव जो कहा सोई अज्ञान की दृढ़ता मे कारण कहते हैं कि हे भारत सृष्टि कहे स्थूल देह धारण होने से जो देह के अनुकूल विषय मे इच्छा और उस देह के प्रतिकूल मे जो द्वेष और उन दोनो इच्छा औ द्वेष से उत्पन्न जो सुख दुख आदि तिस से भया जो विवेक का नाश इस से प्राणी मोह को प्राप्त हैं अर्थात् हम सुखी, हम दुखी ऐसी निश्चय रखते हैं इसी से ये अज्ञानी हम को नहीं भजते हैं ॥ २७ ॥ तौ फेरि कोई कोई जो तुमारी भजन करते है इस शङ्का मे कहते हैं कि जो पुण्य कर्म आचरण शील हैं उन के सर्व्व प्रतिबन्धक स्वरूप सब पाप नष्ट हो गये हैं वै लोग सुख दुख आदि द्वन्द्व से मुक्त औ एकाग्र चित्त होय हम को भजते है ॥ २८ ॥ और ऐसे जो मेरे भक्त जन तेई जानने जोग वस्तु को अच्छी तरह जानि के कृतार्थ होते हैं यह कहते हैं कि जरा मरण निवारणार्थ मेरी आश्रय लै जो मनुष्य यह करते हैं वेई परब्रह्म को जानि शकै हैं और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या जाने हैं अर्थात् अध्यात्म ज्ञान से प्राप्तव्य सोई देहादि से भिन्न शुद्ध आत्मा को भी जानते हैं और तत्त्वज्ञान के साधन रूप कर्म्म भी जानि शकते हैं ॥२९॥ और ऐसे मेरे भक्तों को योग से भ्रष्ट होने की शङ्का नहीं है यह इस श्लोक से कहते हैं कि अधिभूत अधिदैव अधियज्ञ सहित जो हम को जानते हैं तेई मदासक्त चित्त मरण समय मे भी हम को जानि शकैं हैं उस वेला भी व्याकुल होय जो हम को नहीं भूलते हैं इस से मेरे भक्त को योग भ्रष्ट होने का डर नहीं है। श्रीधरस्वामी अध्याय भर का अर्थ कहते हैं कि कृष्णके भक्तही यत्न ज्ञानलाभ करते हैं यही विज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय भगवान ने प्रकाशित किया है ॥ ३० ॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

अष्टम अध्यायः।

अर्ज्जुन उवाच। किन्तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम। अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥ अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन। प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसिनियतात्मभिः ॥२॥ श्रीभगवानुवाच। अक्षरं परमं ब्रह्मस्वभावो-

---

भाषा अनुवाद

सप्तम अध्याय मे जो संक्षेप से कहा कि भगवद्भजन मे एक चित्त भक्तजन ब्रह्म-कर्म औ अधिभूत आदि सात पदार्थ जानि सकै है सोई सप्तम अध्याय मे जो कहा ब्रह्मकर्मादि तिस को भगवान अष्टम अध्याय मे प्रकाशरूप से कहैङ्गे सो यह कि सतयें अध्याय के अन्त मे प्रसङ्गवशते भगवान ने कहा जो ब्रह्म औ अध्यात्म सात पदार्थ तिन के ज्ञानेच्छुक अर्ज्जुन दो श्लोक से प्रश्न करते हैं कि हे पुरुषोत्तम आप ने कहा जो ब्रह्म सो किस रूप का है और अध्यात्म हीं वा किस प्रकार का जानैं तथा कर्म्म हो वा क्या है और अधिभूत या अधिदैव किस को कहते हैं यह प्रश्न अर्ज्जुन ने किया ॥ १ ॥ और शरीर के द्वारा जो यज्ञादि कर्म्म किये जाय हैं उन का अधियज्ञ कहे अधिष्ठाता और कर्म्मफलदाता कौन है अब अधि-यज्ञ का स्वरूप पूंछि कर के उस का अधिष्ठान भूत वस्तु पूछते हैं कि हे मधुसूदन यह अधियज्ञ पुरुष इस देह मे किस प्रकार से स्थित होके यज्ञादि कर्मों का नियोग कहे अवधारण अर्थात् प्रवृत्त और यज्ञ फल प्रदान करते हैं और अन्त काल मे संयत चित्त पुरुष तुम को किस उपाय से जानते हैं। यहां यज्ञ शब्द से सब कर्मों का ग्रहण है यह जानो ॥ २ ॥ श्रीकृष्ण भगवान इस श्लोक से ले कर तीन श्लोक के द्वारा अर्ज्जुन की प्रत्येक प्रश्न का सिद्धान्त रूप उत्तर

ऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरोविसर्गःकर्म्मसंज्ञितः॥ ३॥ अधिभूतंक्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम्। अधियज्ञोऽहमेवात्रदेहेदेहभृतांवर॥ ४॥ अन्तकालेचमा-

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि न चरति गच्छति इति अक्षरं अर्थात् जिस का गमन औ आगमन नहीं है सोई अक्षर ब्रह्म है जो कहो कि जीव चैतन्य भी अक्षर होय न काहे तो कहते हैं कि नहीं देखो जो परम अक्षर कहे जगत का मूल कारण है सोई ब्रह्म जानो क्यों कि श्रुति मे भी कहा है कि हे गार्गि वेद इसी ब्रह्माण्ड ही को सोई ब्रह्म कहते हैं यह बात प्रसिद्ध है और उसी ब्रह्म का अंश जो जीव रूप होने से नाम स्वभाव और देह आदि अङ्गीकार करि के भोक्ता रूप से वर्त्तमान है वह जीव ही अध्यात्म कहा है और भूत कहे जरायुज आदिकों को उत्पत्ति और उद्भव शब्द का यह अर्थ है कि सूर्य्य से वर्षा वर्षा से अन्न औ अन्न से क्रम से प्रजा इन उत्पन्नरूप जो वृद्धि सो भूतों का भाव और उद्भवकारी जो विसर्ग अर्थात् सर्व्व कर्म्म का उपलक्षणरूप देवतों को उद्देश करि द्रव्य त्यागरूप जो यज्ञ सोई कर्म्म है॥ ३॥ और क्षर कहे विनश्वर जो देह आदि सो प्राणी मात्र को अधिकार कर के स्थिति करै है इस से अधिभूत कहावै है और पुरुष कहते हैं सूर्य्यमण्डलवर्त्ती विराट को जो अपने अंशरूप समस्त देवतों के अधिपति हैं वेई अधिदैव है अधिदैव कहते अधिष्ठात्री देवता को यह श्रुति से कहा है कि सोई विराट पुरुष प्रथम शरीरधारी सकल भूतोंके आदि कर्त्ता औ ब्रह्मा के भी पूर्व वर्त्तमान थे और इस शरीर मे अन्त-र्य्यामी रूप से वर्त्तमान हम को अधियज्ञ कहे यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता तथा कर्म फलदाता जानो इस से अधियज्ञ किस रूप स्थिति करते इस प्रश्न का उत्तर भया क्यों कि यही अन्तर्यामी को असङ्ग आदि गुण के द्वारा जीव के साथ भिन्नता पूर्व्वक देह के बीच वर्त्तमानता लोक मे प्रसिद्ध है सो श्रुति भी कहती है कि भिन्नता भाव से एक स्थान मे रहनेवाले जो जीव औ अन्तर्यामी रूप ये दोनो सुन्दर पक्ष युक्त पक्षी शरीररूप एक वृक्ष पर स्थिति किये हैं तिन के मध्य एक फल भोगी औ दूसरा साक्षी मात्र कहे देखनेवाला है और हे देहभृतांवर नरश्रेष्ठ अर्ज्जुन इस सम्बोधन से यह जनाया कि तुम भी अपनी प्रवृत्ति रूप कर्म्मों को अन्वय व्यतिरे-

मेवस्मरन्मुक्त्वाकलेवरम् । यःप्रयातिसमद्भावंयातिनास्त्यत्रसंशयः ॥ ५ ॥ यंयंवापि स्मरन्भावंत्यजत्यन्तेकलेवरम् । तंतमेवैतिकौन्तेयसदातद्भावभावितः ॥ ६ ॥ तस्मात् सर्व्वेषुकालेषुमामनुस्मरयुध्यच । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥७॥ अभ्या-

भाषा अनुवाद

कानुरूप अर्थात् परस्पर सम्बन्ध और भिन्नरूप सिद्धि असिद्धि मे वही अन्तर्यामी के अधीन हौ तौ सुतरां अन्वय व्यतिरेक के द्वारा इस अन्तर्यामी को तुम आप जानवे योग्य हौ ॥ ४ ॥ और तुम अन्तकाल मे कैसे जाने जाते हो इस विषय मे अन्त-समय ज्ञान को उपाय औ उस का फल देखावते हैं कि उक्त जो अन्तर्यामी स्वरूप जो परमेश्वर मै सो मेरे को स्मरणपूर्व्वक देह त्याग करि के जो प्रकृष्ट रूप से अर्चिरादि कहे सूर्य्य मण्डल मे होय के उत्तरायण राह से गमन करते हैं वे मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं इस मे संशय नहीं है मेरा स्मरण ही तत्त्वज्ञान की उपाय है औ मेरे रूपता की प्राप्ति ही फल है ॥ ५ ॥ अन्तकाल मे मेरा स्मरण कर के मेरी प्राप्ति ही केवल होय यही नहीं सोई कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन अन्तकाल मे जो कोई जिस देवता का या और किसी विषय का ध्यान कर के देह छोडै है सो उसी को प्राप्त होता जिस का ध्यान किया है देखो सर्व्वदा जिसका चिन्तन करते रहो तो अन्तकाल मे भी अन्त करण मे उसी का संस्कार रहता है और नयी अपूर्व वस्तु का स्मरण होना भी कठिन है ॥६॥ पूर्व वासनाही जिस लिये मरण काल के स्मरण मे हेतु है और अन्त समय प्राणी को अपूर्व वस्तु का स्मरण असम्भव है इस से हे अर्जुन सर्वदा हम को चिन्तन करो परन्तु मेरा चिन्तन भी चित्तशुद्ध बिना दुर्लभ है सो तुम चित्तशुद्धि के अर्थ युद्धरूप स्वधर्म का अनुष्ठान करो और तुमारा सङ्कल्पात्मक मन तथा व्यवसायात्मिका बुद्धि मेरे मे अर्पित भई है इस से अनायास हम को प्राप्त होउगे इस में संशय नहीं है ॥ ७ ॥ और स्मरण मे परम कारण अभ्यास को देखावते हुये कहते हैं कि अभ्यास कहे समान जातीय की प्रतीति का प्रवाह जो धारारूप वह योग है अर्थात् उपाय है उस से एकाग्र होय जिस की बुद्धि अन्य विषय मे न जाय ऐसा मनुष्य उस बुद्धि के द्वारा प्रकाश रूप परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करि के हे पार्थ उस परमेश्वर

सयोगयुक्तेन चेतसाऽनान्यगामिना । परमं पुरुषं दिव्यं यातिपार्थानुचिन्तयन् ॥ ८॥ कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः । सर्वस्यधातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९॥ प्रयाणकाले मनसाऽचलेनभक्त्यायुक्तो योगबलेन चैव । भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् सतं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १०॥ यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयोवीतरागाः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्तेपदं संग्रहेण

भाषा अनुवाद

को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ फेरि भी चिन्तनीय पुरुष का स्वरूप दो श्लोक से कहते हैं कि कवि कहे सर्वज्ञ सकल विद्यों के निर्माण कर्त्ता पुराण कहे अनादि सिद्ध अनुशासिता कहे समस्त जगत के नियन्ता और अणोरणीयांस कहे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म आकाश काल दिशों से भी सूक्ष्म औ सब के धाता कहे पोषण कर्त्ता अपरिमित महिमा से अचिन्त्य रूप अर्थात् मलयुक्त मन बुद्धि के अगोचर कहे अदृश्य औं आदित्य वर्ण तथा तम जो प्रकृति माया तिस से पर ऐसे मेरे रूप को जो स्मरण करै है ॥ ९ ॥ प्रपञ्च सहित प्रकृति को भिन्न करि कै जो स्थित है ऐसे पुरुष को भक्तियुक्त जो पुरुष विक्षेप रहित निश्चल मन से आसन्न कहे अन्तकाल मे धारा वाहिक चित्तवृत्ति से स्मरण करै हैं उस के स्मरण विषयक मन की स्थिरता का कारण यही है कि सम्पूर्ण योग बल से सुषुम्नामार्ग क्रमसे उस की प्राणवायु भ्रूमध्य मे प्रविष्ट होती है ऐसा पुरुष परमात्मा रूप प्रकाशात्मक पुरुष को प्राप्त होता है ॥ १० ॥ तिस प्रकार पुरुष की प्राप्ति का हेतु अभ्यास योग की अपेक्षा प्रणव अभ्यास को अन्तरङ्ग कहे श्रेष्ठ साधन कहने की इच्छा रखते हुये भगवान उस के कहने की प्रतिज्ञा करते हैं कि हे गार्गि यही अक्षरस्वरूप परब्रह्म की शिक्षाक्रम से सूर्य्य औ चन्द्र मे नियुक्त होय स्थिति करते है यह श्रुति के कहने से वेदवित लोग जिस को अक्षर कहते हैं और जिस के राग आदि दोष गत भये हैं ऐसा यती कहे यत्नकारी पुरुष जिसमे प्रवेश करते और जिसके जानने अर्थ गुरुकुलमे वास करि ब्रह्मचर्य्य करते हैं सोई ब्रह्मपद तुमको संक्षेपसे कहताहूं तुम सुनो ॥ ११॥ ब्रह्मपद प्राप्ति को अङ्ग समेत उपाय दो श्लोक से कहते हैं कि इन्द्रियों को प्रत्याहरण पूर्व्वक अर्थात् चक्षु आदि से वाह्य रूपादि विषयों का ग्रहण छोड़ि मन को

प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥ सर्वद्वाराणिसंयम्यमनोहृदिनिरुध्यच । मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितो
योगधारणाम् ॥ १२ ॥ ओमित्येकाक्षरंब्रह्मव्याहरन्मामनुस्मरन् । यःप्रयातित्य-
जन्देहंसयातिपरमांगतिम् ॥ १३ ॥ अनन्यचेताःसततंयोमांस्मरतिनित्यशः । तस्याहं
सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥ मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमाङ्गताः ॥ १५ ॥ आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्ति

भाषा अनुवाद

हृदय में रोध कर के अर्थात् विषय का स्मरण त्याग करत भौंह के मध्य भृकुटी देश में वायु के स्थापन करने के अनन्तर योग का धारण रूप जो धैर्य्य उस का अवलम्बन कर के ॥ १२ ॥ ओङ्काराख्य एक जो अक्षर सो ब्रह्म का वाचक अथवा ब्रह्म प्रतीक कहे प्रतिमा के समान इन दोनो हेतु से ब्रह्म हैं ऐसे प्रणव कहे ओंकार के उच्चारण पूर्व्वक तद्वाच्यरूप हम को स्मरण करि देह त्याग करते जो मनुष्य अर्चिरादि मार्ग अर्थात् चन्द्र सूर्य्य मार्ग से गमन करते हैं तेई सर्वोत्तम मेरी गति को पावते हैं ॥ १३ ॥ ऐसे ही अन्त काल में धारणा क्रम से नित्य अभ्यासकारी पुरुष को मेरी प्राप्ति होती है और को नहीं एतावता पूर्व्व वचन हीं को स्मरण करावते हैं कि हे पार्थ जिस मनुष्य का चित्त भगवत को छोड़ि और में नहीं असक्त है ऐसा अनन्य चित्त होय जो निरन्तर या प्रति दिन हम को स्मरण करै है उसी समाहित पुरुष को हम अनायास मिलते हैं और को नहीं प्राप्त होते हैं यह जानो ॥ १४ ॥ जो तुम स्वभक्त को ऐसे अनायास मिलते हो तो फेरि उस का क्यों होता है इस शङ्का पर कहते हैं कि पूर्व्वोक्त महात्मा लोग मेरी भक्ति से मेरे को प्राप्त होय कर दुःख का भवन औ अनित्य जो जन्म तिस को फेरि नहीं प्राप्त होते हैं क्योंकि वे परम सिद्धि को प्राप्त भये अर्थात् जीवन्मुक्त होय जन्म मरण संसारदुःख से छूटि जाते हैं ॥१५॥ इस तरह और और लोक में भी उन भक्तों को पुनर्जन्म का अभाव देखाय कर अपुनर आवृत्ति निर्धारण करते हैं कि हे अर्ज्जुन ब्रह्मा के लोक पर्य्यन्त प्राप्त हो के भी प्राणी पुनर्व्वार संसारगामी होते हैं क्योंकि ब्रह्मलोक का भी एक दिन नाश होता है और क्रम मुक्ति जो कहा है सो किसी विरले को उपासना के द्वारा ब्रह्मलोक

तोऽर्ज्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥ सहस्रयुगपर्य्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणोविदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥ अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्व्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥१८॥ भूतग्रामः सएवायं भूत्वाभूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥ परस्त

भाषा अनुवाद

से जाय ज्ञान प्राप्त होय ब्रह्मा के साथ मुक्ति मिलती है परन्तु हे कौन्तेय मद्रूप को प्राप्त मेरे भक्त का पुनर्जन्म तो नहीं होता है॥ १६ ॥ और जो कहो कि तपस्वी दानी विगतराग औ क्षमाशील लोग त्रैलोक्य के ऊपर शोकरहित स्थान को प्रस्थान करि वास करते हैं इस पुराण के वचन से महर्लोक आदि लोगों की और लोक से उत्तमता मालुम होती है परन्तु विनाश तो सब लोकों का है इस पक्षमे सब की अपकृष्टता ही है हां विशेष यही है कि वे लोक बहुत दिन तक स्थिर रहते हैं और ब्रह्मा की अपने वर्षों से सौ वर्ष की आयुर्दा है औ त्रैलोक्य अर्थात् स्वर्ग मर्त्य पाताल ये ब्रह्मा के प्रति दिनमे उत्पन्न और प्रति रात्रि मे प्रलय होते हैं ब्रह्मा का एक दिन मनुष्यके हजार चतुर्युग के बराबर का होता है और उतनी ही रात्रि है और मनुष्य का एक वर्ष देवतों का रात्रि दिन है इस हिसाब से देवतों के बारह हजार वर्ष मे चारि युग होते हैं जो यह जानते सोई सर्व्वज्ञ हैं और जो चन्द्र सूर्य्य की गति को रात्रि दिन जाते वे कुछ नहीं जानते हैं॥१७॥ जिस से कालगति के पराधीन सब लोक हैं इस से पुनरावृत्ति होती है सोई कहते हैं कि कार्य्यरूप जगत के अव्यक्त कहे सूक्ष्मरूप का कारण स्वरूप ही को प्रकृति कहते हैं उसी कारण रूप प्रकृति से ब्रह्मा के दिन मे चराचर सकल उत्पन्न होते और रात्रि आपने से फेरि उसी प्रकृति मे लय पाते हैं॥ १८ ॥ अब विषयों से वैराग्य होने के अर्थ सृष्टि औ लय का प्रवाह देखावते हैं कि हे पार्थ चराचर प्राणी मात्र पूर्व्व मे थे तेई अवश कर्म्म के आधीन बारम्बार होते औ जाते हैं जब ब्रह्मा का दिन भया तब प्रगटे जब रात्रि आई तो फेरि प्रकृति मे लीन हो गये ऐसे ही हेरफेर लगा रहता है॥ १९ ॥ सकल लोक की अनित्यता दिखाय कर अब दो श्लोक से परमेश्वर का नित्यत्व विस्तार करि कहते हैं कि सोई चराचर की कारणरूप

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥
यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

भाषा अनुवाद

प्रकृति पर अर्थात् उस का भी कारण स्वरूप औ उस से भिन्न चक्षु आदि का अगोचर भाव जो अनादि पुरुष सो यावत् कार्य्य कारण रूप भूत मात्र का नाश होने से भी नष्ट नहीं होते हैं॥ २०॥ अब परमेश्वर के अविनाशित्व मे प्रमाण दर्शाय कर कहते हैं कि जो भावरूप इन्द्रिय अगोचर प्रवेश नाश शून्य अक्षर स्वरूप परमेश्वर जिस से इस विश्व का उद्भव है औ श्रुति सब जिस को अक्षर कहती हैं कि पुरुषान्न किञ्चित्पर सा काष्ठा परागतिः जो सब के पर और जिस से पर कोई नहीं ऐसे श्रुति जिस को उत्कृष्ट गति कहती हैं और जिस को पाय कर फेरि संसार गति नहीं होती वही मेरा स्वरूप है इस से मै ही परम गति हौं यह जानो॥ २१ ॥ इस परमेश्वर की प्राप्ति मे भक्ति ही सब से बढ़ि कै परम उपाय रूप है इस को कहते हैं कि सोई परम पुरुष मै अनन्त भक्ति अर्थात् जिस भक्ति मे मै छोड़ि और कोई भी चिन्तनीय नहीं है ऐसी एकान्त भक्ति से मै मिलता हूं और अब प्राप्तव्य पुरुष की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस पुरुष मे ये भूत सकल स्थित हैं और जो कारण रूप से समस्त जगत मे व्याप रहा है सोई मै हूं॥ २२ ॥ इस प्रकार से भगवत उपासक परम पद प्राप्त हो के फेरि संसारगति मे नहीं आवते हैं यह तीनि श्लोक से कहा अब कौन मार्ग से गमन करि के फेरि आवते और कौन मार्गगामी फेरि नहीं आवते हैं यही प्रकाश रूप से कहते हैं कि हे अर्जुन योगीजन जिस काल मे गमन करि आवते और जिस मे गमन करि नहीं आवते सो काल तुम से कहूंगा यद्यपि देह त्याग से उत्तरायण काल श्रेष्ठ औ दक्षिणायन निकृष्ट है तौ भी व्याससूत्र मे कहा है कि भगवत् भक्त दक्षिणायन मे उत्तम गति को जाते हैं यहां योगी कहे कर्मी औ काल से तदभिमानिनी देवता को लेते हैं॥२३॥ और जिस मार्ग से प्रयाण करि के

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥ धूमो रात्रि स्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योति र्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥ शुक्ल कृष्णे गतीह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्तते पुनः ॥२६॥ नैते सृती पार्थ जनान् योगीमुह्यति कश्चन।

भाषा अनुवाद

फेरि नहीं संसारगतिको प्राप्त होते हैं सोई मार्ग कहते हैं कि अर्चि अभिमानिनी अर्थात् अग्नि या ज्योतिरूप और अह कहे दिन शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण जो छ मास हैं और सम्बत्सर इन सब की अभिमानिनी देवता इहां लेते हैं यथा प्रथम ज्योति मे प्रवेश करि फेरि दिन मे दिन से पक्ष मे पक्ष से उत्तरायण छ माहीं मे उस से सम्बत्सर मे सम्बत्सर से देवलोक में प्राप्त होय फेरि भगवत उपासक ब्रह्मज्ञ होय साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होते है निष्काम कर्म्मकारी इस गति से जाते हैं ॥२४॥ और जिस राह से गमन करि फेरि संसार मे आवते सो कहते हैं कि प्रथम धूम मे प्राप्त होय फेरि धूम से रात्रि मे रात्रि से कृष्णपक्ष मे कृष्णपक्ष से दक्षिणायन छ मास मे तब पितृलोक मे उस से फेरि चन्द्रज्योति मे प्राप्त होय योगी फेरि निवृत्त होते हैं इहां भी धूमादि शब्दों से तदभिमानिनी देवता लेते हैं कामना करि कर्म्मकारियों की यह गति है कि कर्म्मफल भोग करि फेरि संसार होता है ॥२५॥ येई शुक्ल कृष्ण दो गती जगत मे सनातन से चली आवती हैं इन मे निष्काम कर्म्मकारी ज्ञानी शुक्ल कहे प्रकाश मार्ग से गमन कर के मुक्त होते और नाना मनोरथ कर के यज्ञादि कर्म्मकारी मनुष्य कृष्ण कहे अन्धेरो धूम मार्ग से गमन कर कर्म्मफल भोग के अनन्तर फेरि संसार में आय जन्म ग्रहण करते हैं ॥२६॥ इन दोनो उक्त मार्ग के ज्ञान से जो फल सो दिखावते हुये भक्तियोग कहते है कि हे पार्थ मोक्ष औ संसार की देनेवाली इन दोनो मार्ग को जानि कर कोई योगी पुरुष सांसारिक मोह को नहीं पावता अर्थात् सुख समझि स्वर्ग आदि फल की कामना नही करता बल्कि परमेश्वर ही मे निष्ठा करता है इस से हे अर्ज्जुन तुम मेरे भक्तियोग मे युक्त होय के रहो॥ २७॥ अध्याय का अर्थ स्वरूप आठ प्रश्न का अर्थ निर्णय औ फल के सहित कहते हैं कि वेदोमे अध्ययन के

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥ वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्य फलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥
इति श्रीभगवद्गीतायां तारकब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

भाषा अनुवाद

द्वारा और यज्ञों मे मनुष्ठान द्वारा औ तपस्यों मे शरीर शोषण द्वारा औ सर्व दान से मत्पाव के अर्पण से जो उत्तम पुण्यफल सब शास्त्रों ने कहा है उस फल को उल्लङ्घन करि के योगी श्रेष्ठ योगरूप ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं अर्थात् परम पद पावते हैं ॥ २८ ॥ इति जगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी टीकायां तारकब्रह्म योगनाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवम अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसे ऽशुभात्॥१॥ राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्य-

भाषा अनुवाद

केवल भक्ति ही के द्वारा से परमेश्वर पाये जाते अर्थात् ईश्वर का तत्त्वज्ञान होना भक्ति के विना कोई उपाय से सुलभ नहीं है यही अष्टम अध्याय मे स्थिर किया है सोई ईश्वरका अद्भुत ऐश्वर्य्य औ अपनी भक्तिकी सर्व श्रेष्ठमहिमा अब नवयें अध्याय मे विस्तार से भगवान आप अपने मुखसे कहते हैं कि जिस से परमेश्वर जाने जांय सोई विज्ञान कहे उपासना तिस के सहित ईश्वर विषयक जो यह ज्ञान गुह्यतम अर्थात् शास्त्रोक्त धर्म्मज्ञान गुह्य कहे गोपनीय है और उस को अपेक्षा देहादि से भिन्न जो आत्मज्ञान सो गुह्यतम कहे अधिक गोपनीय है फेरि आत्मज्ञान गुह्यतम है अत्यन्त गोपनीय है सो असूया रहित अर्थात् वार वार अपना महात्म उपदेश करते हुये मेरे मे दोष दृष्टि रहित तुम हो इस से मै अब दया करि तुम से कहूंगा कि जिस को जानि करि इस अशुभ रूप संसार बन्धन से छूटि जावगे॥१॥ अब अर्ज्जुन की इच्छा बढ़ावने के हेतु जो ज्ञान कहेङ्गे उस की प्रशंसा करते हैं कि यह जो ज्ञान सो सकल विद्यों का राजा और गोपनीय जो कुछ है उन का भी राजा अर्थात् सब से श्रेष्ठ है और यह अत्यन्त पावन तथा उत्तम है और ज्ञानियों को प्रत्यक्षावगम कहे जिस का बोध सुलभ हैं और धर्म्म कहे धर्म्मसे भिन्न नहीं अर्थात् वेदविहित सर्व धर्म्म का फल स्वरूप है और सुसुखं कहे अना-यास साधन किया जाय सकै है और जिस हेतु अक्षय फल है इस से अव्यय

ज्ञावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥२॥ अश्रद्दधानाः पुरुषाधर्म्मस्यास्यपरन्तप । अ-
प्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्यु संसारवर्त्मनि ॥३॥ मया ततमिदं सर्व्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
तत्स्थानि सर्व्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योग-
मैश्वरम् । भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥ यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः

भाषा अनुवाद

अर्थात् नाश रहित है ॥ २ ॥ जो इस ज्ञान से ऐसा सुख सुलभ है तो फेरि कौन ऐसा अभागी है जो संसारी होगा इस शङ्का पर कहते हैं कि यही भक्ति सहित ज्ञानस्वरूप धर्म्म को न करि के दूसरी उपाय से मेरी प्राप्ति के लिये जो लोग यत्न करते हैं वे मनुष्य हम को न पाय के मृत्यु युक्त संसार मे बार बार आते और ज ते रहते हैं ॥ ३ ॥ इस प्रकार से अवसर प्राप्त जो ज्ञानकाण्ड तिस के श्रोता अर्जुन को उत्साहयुक्त करि के सोई ज्ञान दो श्लोक से कहते हैं कि जिस का स्वरूप अव्यक्त कहे इन्द्रियों का अगोचर ऐसा कारण स्वरूप जो मै सो मेरे से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है क्यों कि श्रुति कहती हैं कि सोई ब्रह्म संसार सृष्टि करि के उस के बीच जीवस्वरूप होय प्रविष्ट है इस कारण से चराचरात्मक भूत मात्र कारण रूप मेरे हो मे स्थित हैं परन्तु ऐसा भी है तौ भी स्वकार्य्य घटादि मे मृत्तिका के तुल्य मै भूतों मे नहीं हूं जिस हेतु मैं आकाश के समान सङ्ग रहित अर्थात् सब से अलग हौं ॥४॥ और देखो कि हम सबसे अलग हैं इस हेतु स्थावर जङ्गम सर्वभूत हमारे मे नहीं स्थित हैं और जो शङ्का करो कि पीछे तुमने अपना सर्वव्यापित्व औ सब के आश्रय यह कहा है तो कहते हैं कि हमारी अघट घटना रूप चातुरी देखो कि मेरी योगमायाके विभव बलसे यह बात बूझने के अयोग्य है पर मेरा कहना तो किसी अंशमे विरुद्ध नहीं हैं और आचार्यलोग जो भूतभावन पालनकर्त्ता हमको कहते हैं तौ भी हमारा उतकृष्ट रूप भूतभावन नही है जैसे जीवगण देहधारण औ पालन करते हुये अहङ्कार से देह के साथ मिलत हैं तैसे निरहङ्कार हेतु से भूतों का लालन पालन करते हुये भी हम उन मे पृथक हैं यही मेरा ऐश्वर्य्य है ॥ ५ ॥ अन भिन्न वस्तु भी आधार आधेय अर्थात् रहने को जगह औ रहने वाली वस्तु हो सकै है यह दृष्टान्त देखाय कर कहते हैं कि आकाश के बिना वस्तु

स॒र्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥ सर्वभूतानि कौन्तेय
प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥ प्रकृतिं
स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनःपुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥ न च
मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय। उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥ अत्र

भाषा अनुवाद

रहने का असम्भव है इससे आकाश मे स्थित जो वायु सो सर्वगत औ महान् होके भी आकाश के साथ मिलने की कोई उपाय न रहने से जैसे आकाश के साथ नहीं मिलती है तैसे ही भूत मेरे मे रहते हुये भी अलग जानो अर्थात् जैसे आधाररूप आकाश मे रहि कर वायु निर्लिप्त है तैसे भूतों के रहते हुये भी आधार स्वरूप ब्रह्म निर्लिप्त है ॥ ६ ॥ इस से असङ्गरूप ईश्वर को योगमाया से चराचर की स्थिति ईश्वर मे कही गई अब सोई योगमाया से सृष्टि औ पालन के भी हेतु ईश्वर हैं यह कहते हैं कि प्रलय के समय मे सकल भूत सत्व रज तम गुणमयी मेरी प्रकृति मे लीन होते फेरि सृष्टि के समय स्थूल सूक्ष्म नानारूप भूतों को मै सिर्ज्जन करता हूं हे कौन्तेय अर्ज्जुन ॥७॥ जो कहो कि तुम असङ्ग निर्व्विकार सो कैसे सृष्टि करते हो इस अपेक्षा पर कहते हैं कि मै अपने आधीन प्रकृति को अङ्गीकार करि प्राचीन कर्मों के स्वभाव वश भये पराधीन कर्म्म के वशीभूत भूत सकलकों फेरि नानारूप सिर्जन करता रहता हूं ॥ ८ ॥ और जो कहो कि इस प्रकार नाना प्रकार कर्मकारी जो तुम हो तो तुमारा जीव के समान बन्धन क्यों न हो तो कहते हैं कि वे कर्म हम को बन्ध नहीं कर सकते क्यों कि कर्म मे जो आसक्ति सोई बन्धन का कारण हैं और हम पूरण काम है इस से वह आसक्ति हम को नहीं है हम तो उदासीन के समान वर्त्तमान है जैसे ही उदासीन के समान कर्म्म करते हुये तुम को भी ये कर्म्म न लगेङ्गे ॥ ९ ॥ सोई कहते है कि अधिष्ठाता कारण स्वरूप मेरे बल से यह प्रकृति चराचर विश्व को बार बार उत्पन्न करती है तात्पर्य्य यह कि मेरी सान्निध्य कहे सामीप्य से प्रकृति सृष्टि करने की समर्थ होती है इस से हम को कर्तृत्व औ उदासीनत्व दोनो

जानन्ति मां मूढ़ामानुषीन्तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो ममभूत महेश्वरम ॥११॥
मोघाशामोघकर्माणो मोघज्ञानाविचेतसः । राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृति मोहनींश्रि-
ताः ॥१२॥ महात्मानस्तुमांपार्थदैवींप्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसोज्ञात्वाभूतादि-
मव्ययम् ॥१३॥ सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्य-

भाषा अनुवाद

असङ्गत नहीं हैं क्यों कि माया हमारी सहाय के विना असमर्थ है ॥१०॥ और जो कहो कि तुम ऐसे जो परमेश्वर तो तुम को कोई कोई आदर नहीं क्यों करते हैं तो दो स्लोक से कहते हैं कि सर्व्व भूत के ईश्वर जो हम सो हमारा परमतत्त्व जो लोग नहीं जानते तेई मूर्ख हमारा निरादर करते है इस मे कारण यह है कि हम विशुद्ध सत्त्वरूप होय के भी अपने भक्तों की इच्छा वशते मनुष्य के नाईं शरीर धारण करते और तैसे ही कर्म भी करते हैं इस से लोग अपने समान हम को मानते हैं ॥११॥ और जो मनुष्य हम से भिन्न और देवतों से कि शीघ्र फल देयङ्गे ऐसी निष्फल आशा करते हैं और हम से विमुख होय जो फल के हेतु कर्म्म करैं हैं और जिन के शास्त्र से जो ज्ञान सो नाना कुतर्क युक्त है वेई सकल विचेतस कहे विक्षिप्त चित्त लोग अनर्थ के हेतु हिंसादि तामस कर्म तथा काम अभिमान से भरी पूरी जो राजसी बुद्धि तिस के आश्रित होय हम को न जानि हमारा निरादर करते हैं ॥१२॥ तो फेरि तुमारी आराधना कौन करते हैं जो यह पूछो तो कहते हैं कि कामादिक मे जिन का चित्त अवश नहीं ऐसे जो महात्मा लोग वे दैवी प्रकृति के आश्रित होते हैं इसी से हम को छोड़ि और मे जिन का मन रमित नहीं है ते मनुष्य हम को समस्त भूत के आदि कहे जगत् के कारण नित्य स्वरूप जानि कै भक्ति पूर्व्वक आराधन करते हैं ॥ १३ ॥ अब भक्तों के भजन का प्रकार दो स्लोक से कहते हैं कि सर्वदा स्तोत्र औ मन्त्र से कोई मेरा कीर्त्तन करते ऊये मेरी उपासना करते हैं और कोई दृढ़ नियम करके ऐश्वर्य्य औ ज्ञान मे यत्न करते ऊये मेरे उपासक होते हैं और कोई भक्ति पूर्वक प्रणत होय मेरा सेवन करते हैं ऐसे नित्य युक्त कहे सावधान मेरे मे तत्पर होय मेरे भक्त मुझे सेवते हैं ॥१४॥ और चराचर मात्र श्रीकृष्ण हैं ऐसा जो आत्मदर्शन सोई ज्ञान औ सोई

युक्ता उपासते ॥१४॥ ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा
विश्वतोमुखम् ॥१५॥ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्नि-
रहं हुतम् ॥१६॥ पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम
यजुरेव च ॥१७॥ गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं
वीजमव्ययम् ॥१८॥ तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च। अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदस-

भाषा अनुवाद

यज्ञ है इस प्रकार ज्ञान यज्ञ से कितने हम को पूजते हैं देखो कोई अभेद भाव से और कोई हम भगवान के दास इस भेद भाव से उपासना करते हैं और कोई हम को ब्रह्मा रुद्र आदि रूप समझ कर के सेवते हैं ॥ १५ ॥ अब अपनी सर्व्व रूपता चारि श्लोक से कहते हैं कि मैंहीं क्रतु कहे वेदोक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञ और यज्ञ कहे धर्म्म शास्त्रोक्त जो पञ्च यज्ञ वलि वैश्व देवादि औ स्वधा कहे श्राद्ध और औषध अर्थात् फल होने से जो पकि जांय इस से अन्न भी आय गये और मन्त्र औ आज्य कहे घृत आदि औ अग्नि कहे यज्ञाग्नि और होम यह जो कुछ सो सब हम हीं हैं ॥१६॥ और इस जगत के पिता माता तथा धाता कहे कर्मफलदाता औ पितामह तथा वेद्य कहे ज्ञेयवस्तु औ पवित्र कहे शुद्ध करनेवाले औ ओंकार तथा ऋक् यजुर साम अथर्व वेद यह समस्त मैंहीं हौं ॥१७॥ और मैंहीं गति कहे प्राप्य कर्मफल रूप औ भर्त्ता कहे पोषणकर्त्ता औ प्रभु नियामक तथा साक्षी शुभ अशुभ के द्रष्टा औ निवास कहे भोगस्थान तथा शरण कहे रक्षक एवं सुहृत् कहे हेतु रहित हितकारी औ प्रभव अर्थात् जगतके उत्पन्नकर्त्ता प्रलय कहे संहर्त्ता स्थान कहे विश्व के आधार और निधान कहे लय स्थान एवं वीज कहे कारण औ अव्यय कहे अविनाशी मैंहीं हौं ॥१८॥ और ग्रीष्मकाल में सूर्य्यरूप मैंहीं समस्त को ताप देता हूं औ वर्षाकाल में जल वृष्टि भी हमी करते हैं औ तथा कोई समय जल किरणों से खींचते और कभी फेरि जल को छोड़ते भी हमी हैं औ अमृत कहे जीवन मृत्यु कहे मरण औ सत कहे पृथिवी आदि पांच स्थूल पदार्थ औ असत् कहे सूक्ष्म वस्तु रूपादि पञ्च मात्रा भी हे अर्जुन हम हीं को जानो इसी से लोग नाना रूप हमारी उपासना करते हैं ॥ १९ ॥ मूढ़ मेरा अनादर करते औ

ह्यहमर्ज्जुन ॥१९॥ त्रैविद्यामांसोमपाःपूतपापायज्ञैरिष्ट्वास्वर्गतिंप्रार्थयन्ते। ते पुण्य-
मासाद्यसुरेन्द्रलोकमश्नन्तिदिव्यान्दिविदेवभोगान् ॥२०॥ तेतंभुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
२१॥ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमंवहा-
म्यहम् ॥२२॥ येऽप्यन्यदेवताभक्तायजन्तेश्रद्धयान्विताः। तेऽपिमामेवकौन्तेय यजन्त्यवि-

भाषा अनुवाद

महात्मा मेरी भजन करते ऐसे पूर्व्व मे भक्त अभक्त के लक्षण कहि के अब मूढ़ों का जन्म मृत्यु रूप संसार प्रवाह दुर्निवार है यह दो श्लोक से कहते हैं कि जो मनुष्य ऋक् यजुः साम वेद पढ़ते वै त्रैविद्य अर्थात् वेदोक्त कर्म्म परायण यज्ञ के द्वारा सर्व्व रूप जो मै सो मेरी ही पूजा करि के और सोमलता का रस पी कर पूतपाप होय स्वेच्छा से स्वर्ग लोक को जाते हैं और पुण्य फलरूप स्वर्ग प्राप्त होय वहां के उत्तम देवभोग्य वस्तुओं का भोग हैं ॥ २० ॥ फेरि वेई स्वर्ग कामी मनुष्य अपना इष्ट विपुल स्वर्ग सुख भोग करि के जब पुण्य क्षीण भई तब फेरि मर्त्यलोक मे आवते हैं आय कै फेरि वही वेदत्रयी विहित धर्म्म कर्म्म करि के भोग कामनाकारी लोग गमनागमन मात्र लाभ किया करते हैं अर्थात् कभी नीचे आते औ कभी ऊपर जाते रहते है ॥२१॥ और हमारे भक्तजन मेरी कृपा ही से कृतार्थ होते यह कहते हैं कि जिन के हमै छोड़ी और कोई मन कामना नहीं हैं तेई अनन्य भक्त हमारी सेवा करते हैं नित्याभियुक्त सर्व्वदा एक मेरे मे है मन जिन का उन का योग क्षेम अर्थात् योग जो धन आदि लाभ और क्षेम जो प्राप्त वस्तु का रक्षा सो मै करता हूं अथवा निर्वाण जो मुक्ति यद्यपि वे नहीं चाहते पर मै उन को अपनी इच्छा से देता हों ॥ २२ ॥ जो कहो कि विचार से तो सर्व्व देव रूप तुम को छोड़ि और देवता कौन है देखो सब रूप जो तुमारे हैं तो इन्द्रादि के पूजक लोग भी तुमारे ही उपासक हैं फेरि क्या कारण है जो वे विचारे ऊपर नीचे गमनागमन किया करते हैं इस पर कहते हैं कि हां श्रद्धा युक्त जो इन्द्रादि देवतों की आराधना करते हैं सो सत्य हमारी सेवा है परन्तु वै अविधि से अर्थात् मोक्ष की देनहार विधि को छोड़ि कर पूजन करते हैं इसी से

धिपूर्वकम् ॥२३॥ अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ताचप्रभुरेव च। नतुमामभिजानन्तितत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥ यान्तिदेवव्रतादेवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रता। भूतानि यान्तिभूतेज्यायान्तिमद्याजिनोऽपिमाम् ॥२५॥ पत्रं पुष्पं फलंतोयंयोमेभक्त्याप्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामिप्रयतात्मनः ॥२६॥ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषिददासि यत्। यत्तपस्यसिकौन्तेयतत्कुरुष्वमदर्पणम् ॥२७॥ शुभाशुभफलैरेवंमोक्ष्यसेकर्मबन्धनैः। संन्यास

भाषा अनुवाद

पुनः पुनः संसार को पावते हैं ॥२३॥ पूर्व कथित वाक्य को विस्तार से कहते हैं कि देवता स्वरूप यज्ञफल भोक्ता मैहीं हौं और प्रभु कहे यज्ञफल दाता भी मैहीं हूं पर इस तरह से वे देवपूजन लोग यथावत् कहे ठीक नहीं जानते हैं इसी से फेरि संसारगति को आवते हैं और सर्व देव मे हम को अन्तर्यामीरूप देखि जो मेरा अर्चन करते वे पुनः संसारगति को नही पावते हैं ॥२४॥ अब वही उक्त वाक्य का प्रतिपादन करते हैं कि जो देवव्रत कहे इन्द्रादि देव उपासक हैं वे देवलोक को जाते औ पितृ उपासना करनेवाले पितृलोक को जाते तथा भूत सेवाकारी अन्त मे भूत जोनि पावते हैं और जो मेरी पूजा करैं हैं सो मद्याजी अक्षय परमानन्द स्वरूप हम को ही प्राप्त होंय हैं ॥२५॥ अब स्वभक्त को अक्षय फलत्व औ स्वभक्ति का सुलभत्व देखावते हैं जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पत्र पुष्प फल जल मात्र भी हमै देय है वह विमल चित्त भक्तजन की प्रीति से दिया हुआ पुष्पादि मै अति प्रसन्न होय ग्रहण करता हूं इस का भाव यह है कि और देव के समान बड़ी पूजा सामग्री हमै न चाहिये हम केवल भाव भक्ति से प्रसन्न होते हैं ॥ २६ ॥ जिस लिये मै भाव भक्ति से भक्त पर प्रसन्न होता हूं इस से हे कौन्तेय कुन्तीपुत्त्र जो कुछ कर्म्म करो या आहार करो याग यज्ञ करो या दान करो या तप करो सो सब मदर्पण अर्थात् मेरे को समर्पण करो तो वह सब अक्षय फल होगा और दोष किसी तरह से न लगैगा ॥ २७ ॥ इस प्रकार आचरण करने से जो फल होगा सो सुनो कि उक्त प्रकार से कर्म सकल भगवत् समर्पण करने से कर्मबन्धन अर्थात् कर्मजनित इष्ट अनिष्ट फलप्राप्ति से वचि रहोगे और मेरे मे समर्पित जो कर्म सन्न्यासयोग उसी से युक्तचित्त हो

दशम अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। भूयएव महाबाहो शृणु मे परमं वचः। यत्तेऽहं प्रीयमाणायवक्ष्या-
मि हितकाम्यया ॥१॥ न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं नमहर्षयः। अहमादि र्हि देवानां
महर्षीणाञ्च सर्वसः ॥२॥ योमामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असंमूढसमर्त्ये

भाषा अनुवाद

सप्तम अध्याय से ले कर नवम अध्याय पर्य्यन्त भगवान ने अपनी विभूति औ सर्व्वत्र ईश्वर बुद्धि होना तथा आप अपना परमेश्वरत्व औ यज्ञ आदि सकल वस्तु मै हीं हूं और अपनी अनन्य भक्ति परम भक्त अर्ज्जुन से संक्षेप रूप कहा अब दशम अध्याय मे वही अपनी विभूतियों को विस्तार करि कहते हुये स्वभक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता श्रीभगवान कहते हैं कि हे महाबाहो अर्ज्जुन तुम फेरि हमारे वचन सुनो परमात्मा विषयक मेरे वचन अमृत ऐसे श्रवण करि के अति प्रसन्न प्रीतियुक्त जो तुम सो तुमारी इच्छा के अनुसार तुमारे हित वचन मै कहता हूं तुम श्रवण करो ॥१॥ कही हुई बात का यो पुनर्वार कहना तिस मे हेतु यह कि मेरा तत्त्व जानना अति कठिन है सोई कहते हैं कि जन्म रहित होके जो जो विभूतियों के द्वारा मेरा आविर्भाव कहे प्रगट होना सो देवता औ भृगु प्रभृति महर्षि भी नहीं जानते हैं क्यों कि देवता औ महर्षियों को उत्पन्न करनेवाले तथा बुद्धि के प्रवृत्ति देनहार आदि भूत कारण रूप हम हैं इसी से हमारी कृपा विना हम को कोई जानने नहीं सकता है ॥२॥ अब आत्मज्ञान का फल कहते हैं कि सब के कारण रूप हेतु और जिस का कोई कारण नहीं है ऐसे अनादि औ जन्म रहित सकल लोक के महेश्वर जो मै सो मुझे जो कोई जानै है तो मनुष्यों के मध्य मे वही

न्तिंनिगच्छति। कौन्तेयप्रतिजानीहिनमेभक्तःप्रणश्यति ॥३१॥ मांहिपार्थव्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः। स्त्रियोवैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ॥३२॥ किं पुन र्ब्राह्मणाः पुण्याभक्ता राजर्षयस्तथा। अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्यभजस्वमाम ॥३३॥ मन्मनाभवमद्भक्तोमद्याजीमांनमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥ इति श्रीभगवद्गीतायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजगुह्यनाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

भाषा अनुवाद

नाश नहीं है ॥३१॥ अत्यन्ताचार भ्रष्टों को भी जो मेरी भक्ति पवित्र करती है इसमें क्या आश्चर्य्य है क्यों कि देखो मेरी भक्ति अनधिकारीयों को भी संसारसे मुक्त करती है तो दुराचारों को मुक्ति मे क्या सन्देह है सोई कहते हैं कि कोई निकृष्ट जन्म चाण्डाल आदि क्यों न होय और स्त्री क्यों न होय स्त्री मे भी वेश्या क्यों न होय वेश्या ही को वैश्या कहने स्वार्थ मे अण प्रत्यय जानो जो कोई वैश्या का अर्थ वणिक जाति पर लगाते उन की भूल कितनी बड़ी है कि वेद ब्रह्म के अधिकारी तथा सन्ध्या उपासना कर्म के अधिकारी तथा यज्ञउपवीतधारी द्विजाति शब्द से प्रसिद्ध वैश्य जो अधिकारी हैं तो तो ब्राह्मण क्षत्री भी तैसे ही हैं मनभावता अर्थ करो वेद शास्त्र क्या करना है ॥३२॥ जब कि मेरी भक्ति अनधिकारीयों को मुक्ति देती तो फेरि ब्राह्मण कहे ब्राह्मण आदि तीनो वर्ण जो ब्राह्मण क्षत्री वैश्य पवित्र औ मेरे भक्त उन की मुक्ति मे क्या सन्देह है तिसमे भी राजर्षि अर्थात् राजवंश क्षत्रिय राजा लोग जो दशदिग्पालों के अंश से प्रगट हैं उन को क्या कहना है सो तुम राजवंश हौ इस अनित्य संसार सुख को त्याग करि के यह लोक कहे नर देह पाय हम को भजो ॥३३॥ भजन प्रकार देखावते हुये कहते हैं कि मेरे मे जिस का मन है ऐसे तुम मन्मना होउ और मेरे ही भक्त होउ औ मेरी ही पूजा करो और मै हीं को प्रणाम करो इसी प्रकार से मत्परायण होके आत्मा जो मन तिस को मेरे मे योग कहे लगाय के परम आनन्द रूप मेरे स्वरूप को प्राप्त होउगे इस नववें अध्याय मे अपनी भक्ति का अद्भुत प्रभाव राज-योग नाम भगवान ने प्रकाश किया हैं ॥३४॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी टीकायां योगशास्त्रे राजगुह्ययोग नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

योगयुक्तात्मा विमुक्तोमामुपैष्यसि ॥२८॥ समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः। ये भजन्तितुमांभक्त्यामयितेतेषुचाप्यहम् ॥२९॥ अपिचेत्सुदुराचारोभजतेमामनन्यभाक्। साधुरेवसमन्तव्यःसम्यग्व्यवसितोहि सः ॥३०॥ चिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छा-

भाषा अनुवाद

के तुम हम को निःसन्देह प्राप्त होउगे ॥ २८ ॥ भला जो भक्तों को इस भांति मुक्त करते हो औ अभक्तों को नहीं तो क्या तुमारे भी प्रीति विरोध कृत वैषम्य कहे विषम स्वभाव है इस के उपर अपने उस भाव का अभाव कहते हैं कि सकल भूत मे हम समान रूप से वर्त्तमान हैं इसी से हमारे न कोई प्रिय और न अप्रिय है और जो हमारी भक्ति करता है सो हमारे मे वर्त्तमान और मै भी उस पर अनुग्रह करता रहता हूं इस का भावार्थ यह है कि जैसे अग्नि के सेवन करने वाले का अन्धकार और शीत आदि दुःख का निवारणकारी अग्नि मे विषम स्वभाव नहीं है और जैसे कल्पवृक्ष अपने सेवक को सकल पदार्थ देता हैं तौ इन को प्रिय अप्रिय कोई नहीं परन्तु फल जो है सो भक्त ही को है इस से भक्ति ही की महिमा यह सब तुम जानो ॥ २९ ॥ और अपनी भक्ति का अपूर्व अचिन्त्य प्रभाव देखावते हैं कि अत्यन्त दुराचार कहे और और देखावता भी वासुदेव ही हैं इस रूप एक वुद्धि होय यद्यपि औरों की भक्ति न कर के केवल परमेश्वर स्वरूप मेहीं को भजे है तौ भी सो साधु औ श्रेष्ठ है क्यों कि मेरे मे उत्तम निश्चय तो उस ने किया है ॥ ३० ॥ ऐसा मनुष्य किस प्रकार उत्तम है इस शङ्का पर कहते हैं कि अत्यन्त दुराचारी भी हमारी ही भक्ति कर के स्वधर्म्मचित्त होय है अर्थात् चित्त को तरङ्ग निवृत्त होय परमेश्वर मे निष्ठा अवश्य पावता है और तुर्त्त धर्मात्मा होता और शान्ति को प्राप्त होता है पर इस बात का कुतर्क कर्कशवादी लोग न मानेङ्गे इस शङ्का से व्याकुल अर्जुन को भगवान उत्साह देते हैं कि हे कौन्तेय नगारा वजाय विवादकारी लोगों की सभा मे जाय हाथ उठाय तुम निःशङ्क हो यह प्रतिज्ञा करो कि परमेश्वर के भक्त अति दुराचार होने से भी नष्ट नहीं होते बल्कु कृतार्थ होते हैं ऐसी प्रतिज्ञा करने पर तुमारी जय और वे नष्ट कुतर्क होय तुम को गुरू कर के मानेङ्गे सो तुम यह जानो कि मेरे भक्त का

पु सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥ बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमःशमः। सुखंदुःखंभवो-
ऽभावो भयञ्चाभयमेव च ॥४॥ अहिंसा समतातुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति
भावाभूतानां मत्तएव पृथग्विधा ॥५॥ महर्षयः सप्तपूर्व्वे चत्वारोमनवस्तथा। मद्भावामा-
नसाजातायेषांलोकइमाः प्रजाः ॥६॥ एतांविभूतियोगञ्च ममयोवेत्तितत्त्वतः। सोऽवि-
कल्पेनयोगेन युज्यते नात्रसंशयः ॥७॥ अहं सर्वस्यप्रभवोमत्तःसर्व्वंप्रवर्त्तते। इतिमत्वा
भजन्ते मां बुधाभावसमन्विताः ॥८॥ मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथ-

भाषा अनुवाद

अच्छी तरह मोह रहित होके समस्त पापों से छूटि जाय है ॥३॥ अब तीन स्लोक अपनी लोकमहेश्वरता प्रकाश करते हैं कि बुद्धि कहे सार असार वस्तु विचार की चातुरी औ ज्ञान तथा असम्मोह औ क्षमा सत्य वचन और दम कहे बाहर की इन्द्रियों का दमन औ शम कहे मन का निग्रह औ सुख दुःख जन्म नाश औ भय अभय ये सब हम से होते हैं ॥ ४ ॥ और अहिंसा शमता कहे प्रीति विरोध का अभाव औ तुष्टि कहे वे मांगे यथा लाभ सन्तोष औ तपस्या जो १७ अध्याय मे कहेंगे और दान कहे स्वधर्म्म से उपार्जित धन सत्पात्र को देना और यश अयश ये नाना प्रकार के भाव सब हम हीं से उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥ और भृगु आदि सप्त महर्षि येई पुराणों मे सात ब्राह्मण कर के प्रसिद्ध हैं और इन के भी पूर्व्व सन-कादि चारि ब्राह्मण और स्वायम्भू आदि चौदह मनु इन सब मे मेरा प्रभाव है और ये सकल हिरण्यगर्भ जो मै सो मेरी इच्छा से प्रगटे हैं येइ सात ऋषियों से पुत्र पौत्र शिष्य प्रशिष्य क्रम से प्रजारूप ब्राह्मणादि वर्ण सकल जन्मे हैं ॥६॥ अब यह सब उक्त विभूति कहे अपनी सम्पत्ति के तत्त्वज्ञान का फल कहते हैं कि येई भृगु आदि हमारी विभूति औ ऐश्वर्य्यरूप योग हैं यह जो मनुष्य यथार्थ से जानै है सो संशय रहित सर्व्वज्ञ सम्यक् दर्शन होय है ॥७॥ अब विभूति औ योग जानने से जिस प्रकार सम्यक्ज्ञान प्राप्ति होती हैं सोई चारि स्लोक से देखावते हैं कि मैहीं समस्त जगत का प्रभव अर्थात् भृगु आदि मनु आदि रूप विभूति के द्वारा उत्पत्ति का हेतु हौं औ हमी से बुद्धि औ ज्ञान सकल उत्पन्न होते यही जानि के विवेकी लोग प्रीतियुक्त होय हमारी भजन करते हैं ॥८॥ प्रीतिपूर्व्वक भजन का स्वरूप

यन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्व्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येनमामुपयान्ति ते ॥१०॥ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयम्यात्मभावस्थोज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥ अर्ज्जुन उवाच ॥ परं ब्रह्म परं धाम
पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥ आहुस्त्वामृषयः
सर्व्वे देवर्षि नारदस्तथा । असितदेवलो व्यासः स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥ सर्व्वमेतदृतं

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि जिस का चित्त मेरे ही मे निरत है सो मच्चित्त और जिस के प्राण कहे सकल इन्द्रिय अथवा जीवन मेरे मे अर्पित है ऐसे मद्गत प्राण विवेकी जन हम को युक्ति औ श्रुति प्रमाण से जानते हैं और सर्व्वदा परस्पर मेरी ही चर्चा करते हुये सदा सन्तुष्ट मन मेरे गुण गान मे रममाण पूर्ण काम इस असार संसार के जञ्जाल से मुक्ति पावते हैं ॥ ९ ॥ ऐसे ही भक्तों को हम ज्ञान प्रदान करते हैं सोई कहते हैं कि एवम्भूत मेरे मे सदा आसक्त चित्त औ प्रीतिपूर्व्वक भजनकारी भक्तलोगों को मै सोई बुद्धिरूप योग कहे उपाय देता हूं और उस उपाय से वे मेरे भक्त मुझे धनावास प्राप्त होते हैं ॥१०॥ बुद्धियोग दे कर के उन अपने भक्तों का फेरि अविद्याकृत संसार नाश करता हूं अब यह कहते हैं कि उन पर अनुग्रह करने हीं के अर्थ उन के अज्ञान से उत्पन्न जो संसार अन्धकार तिस को नाश करता हूं जो कहो कि किस स्थान मे वैठि के और कौन प्रकार से सो अन्धकार आप दूर करते हौ तो कहते हैं कि आत्मभाव कहे बुद्धिवृत्ति मे अव स्थान कर के प्रकाशमान तत्त्वज्ञान स्वरूप दीप के द्वारा अज्ञान अन्धकार दूर करता हौं ॥११॥ संक्षेपरूप से कही गई जो विभूति उस को विस्तार से जानने को इच्छा करिके अब अर्जुन भगवानकी स्तुति करते हुये सात श्लोकसे कहते हैं कि आप पर ब्रह्म औ परमधाम कहे आश्रय औ पवित्र हो इस कारण यह कि नित्य कहे सदा वर्त्तमान पुरुष स्वयं प्रकाश आदि देव औ जन्म शून्य सर्व्वव्यापी तुम को ऋषि कहते हैं ॥१२॥ कौन ऐसा कहते हैं तो इस पर कहते कि भृगु आदि ऋषि सकल और देवर्षि नारद असित ऋषि देवल व्यासदेव ये सव कहते और आप भी साक्षात् हम से कहते हो ॥१३॥ इस से अब आप के ऐश्वर्य्य मे असम्भावना बुद्धि

मन्येयन्मां वदसि केशव। न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥ स्वयमेवात्म-
नात्मानं वेत्थत्वं पुरुषोत्तम। भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥ वक्तुमर्हस्यशेषेण
दिव्याह्यात्मविभूतयः। याभि र्विभूतिभि र्लोकानि मां स्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥ कथं
विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्। केषुकेषुच भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया ॥१७॥

भाषा अनुवाद

निवृत्त हो गई यह कहते हैं कि हे केशव आप जो कहते हो कि सवरूप हम हैं सो मैने सत्य करि माना और जो आप ने कहा कि सकल देवता हम को नहीं जानते वह भी यथार्थ कर के मैने जाना है सोई अर्ज्जुन कहते हैं कि हे भगवान भक्तों औ देवतों पर अनुग्रह के अर्थ जो तुमारे अवतार यह देवता नहीं जानते हैं और दानव भी यह नहीं जानते कि हमारे निग्रह के लिये भगवान का शरीर धारण भया है ॥ १४ ॥ तो इस का फलित अर्थ क्या है इस आकांक्षा पर कहते हैं कि हे पुरुषोत्तम आप ही अपने को जानते हो और कोई तुम को नहीं जानै है यह अति आदर से वारम्बार सम्बोधन दे कर कहते हैं कि हे भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते इन सव सम्बोधनों से श्रीकृष्ण का पुरुषोत्तमत्व साधन किया है ॥१५॥ जिस हेतु तुमारा तत्त्व औ अभिव्यक्ति तुम को छोड़ि कै देवादि भी नहीं जानते इस से तुमारी जो अद्भुत विभूति सो तुमारे ही कहने योग्य है कि जिन विभूतियों से तुम सकल लोक मे व्याप रहे हो सो अपनी उन दिव्य विभूतियों को कृपा करि के कहो जो मेरे मन का सन्देह जाय ॥ १६ ॥ इस से अर्ज्जुन अपने कहने का प्रयोजन देखलाय कर प्रार्थना करते हैं कि हे योगिन् श्रीकृष्ण मै तुम को किसतरह तुमारी विभूति भेद के द्वारा निरन्तर भावना करि के जानने सकौंगा और भिन्न भिन्न विभूति मे चिन्तनीय तुम कौन कौन पदार्थ मे मेरि भावना के योग्य हो अर्थात् किस किस वस्तु मे तुमैं हम जानैं ॥ १७ ॥ चित्त को वृत्ति वहि-र्मुख होने पर भी उस समै तुमारी विभूतियों के द्वारा जिस प्रकार तुमारा चिन्तन होय वैसी उपाय विस्तार से कहो यह अर्ज्जुन पूछते हैं कि तुमारा सर्व्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व आदि स्वरूप जो योग का ऐश्वर्य्य और सम्पूर्ण विभूति जो है सो सव हे जनार्दन विस्तार से पुनर्व्वार कहो क्यों कि आप के अमृत स्वरूप

विस्तरेणात्मनायोगं विभूतिञ्च जनार्दन। भूयः कथयतृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मे मृतम् ॥१८॥ श्रीभगवानुवाच। हन्त ते कथयिष्यामि दिव्याह्यात्म विभूतयः। प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥२०॥ आदित्यानामहं विष्णु र्ज्योतिषां रविरंशुमान्। मरीचि र्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥ वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥ रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्ष रक्षसाम्। वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

भाषा अनुवाद

वचन श्रवण करते हुये भी मेरा मन तृप्त नहीं होता है ॥ १८ ॥ जब अर्जुन ने ऐसी प्रार्थना किया तब भगवान कहते हैं कि हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन मेरी जो दिव्य विभूतीं हैं सो तुम को अच्छी प्रकार से कहूंगा और विस्तार से कहने को तो मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है इस से प्रधान प्रधान जो हैं सो सब कहूंगा ॥ १९ ॥ अब प्रथम ईश्वर स्वरूप कहते हैं कि हे गुडाकेश जितनिद्र अर्जुन परमात्मारूप मैं तावत भूतमात्र के अन्तःकरण मे सर्वज्ञत्व आदि गुण से नियन्तारूप स्थित हों और आदि मध्य अन्त कहे सर्व्व भूतों के सृष्टि स्थिति संहार का हेतु भी मैंहीं हों यह जानो। गुडा का निद्रा को कहते हैं अथवा गुडा कहे गुड़चियाले धुंधुरारे हैं केश जिस के सो गुडाकेश है ॥२०॥ अब इस श्लोक से ले कर अध्याय समाप्ति पर्यन्त अपनी विभूतियों को कहते हैं कि बारह अदिति के पुत्रों मे विष्णु नाम आदित्य मैं हूं और प्रकाशरूपों के मध्य सर्व्वत्र व्यापी रविरूप मैं हों और सप्त देवतों के बीच मरीचि नामक हमैं जानो और नक्षत्रगण मे चन्द्रमा भी मैंहीं को मानो ॥ २१ ॥ और वेदों मे सामवेद देवतों मे इन्द्र और इन्द्रियों के मध्य मे मन प्रधान इन्द्री मैं हों तथा भूत कहे प्राणियों के विशेष चेतना जो ज्ञान शक्ति सो मैंहीं हों ॥ २२ ॥ और एकादश रुद्र मे शङ्कर और यक्ष राक्षसों मे कुबेर मै हों वसुवों के बीच मे अग्नि औ पर्व्वतों मे सुमेरु जानो ॥ २३ ॥ और हे अर्जुन पुरोहितों मे मुख्य बृहस्पति हम हैं और सेनापतियों मे स्वामकार्त्तिक हम हैं और सरसां कहे थिर जलाशयों के मध्य समुद्र हम को जानो ॥ २४ ॥ और

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्। सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः
॥२४॥ महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्। यज्ञानां जपयज्ञोस्मि स्थावराणां
हिमालयः ॥२५॥ अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः। गन्धर्वाणां चित्ररथः सि-
द्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥ उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्। ऐरावतं गजे-
न्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम् ॥ २७ ॥ आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥ अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो याद-
सामहम्। पितॄणामर्य्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥ प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां
कालः कलयतामहम्। मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥ पवनः पव-
तामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्। झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

भाषा अनुवाद

महर्षियों मे भृगु मैहीं हौं और अक्षर तथा पद आत्मक वाक्य के बीच ओंकार अक्षर भी मै हौं औ यज्ञोमे हिंसा रहित हेतु से जपरूप यज्ञ मै हैं। स्थावरो मे हिमालय भी हम हीं हैं ॥२५॥ और वृक्ष जातियों मे अश्वत्थ कहे पीपर औ देव ऋषियों नारद मै हैं। औ गन्धर्वगणों मे चित्ररथ औ सिद्ध कहे आजन्म से परमार्थ तत्त्व ज्ञानियों मे कपिल मुनि मै हैं। ॥२६॥ अश्व कहे घोड़ों मे उच्चैःश्रवा औ गजेन्द्रों मे ऐरावत तथा मनुष्यों मे नरपति राजा भी मैहीं हैं। ॥ २७ ॥ और आयुधों मे वज्र औ धेनु सकलमे कामधेनु औ प्रजा उत्पत्तिकारी जो कन्दर्प सो मैहीं हौं तथा सर्पों मे वासुकी भी हमै जानो विषधारियों की सर्प संज्ञा है ॥ २८ ॥ नागों मे अनन्त शेष नाग और जल जीवों मे वरुण राजा मै हैं। औ पितरों मे अर्यमा तथा दण्डकारियों मे यम राजा हमै जानो। नाग औ सर्प मे यह भेद है कि विष रहित को नाग कहते हैं ॥२९॥ दैत्यों मे प्रह्लाद मै हैं। और वश करनेवालों के संख्या मे काल मै हैं। मृग जाति मे मृगेन्द्र कहे सिंह मै तथा पक्षियों मे गरुड़ मै हैं। ॥३०॥ और पवित्र तथा वेगवानों मे पवन कहे वायु औ शस्त्रधारियों मे राम दशरथ के पुत्त्र हम को जानो तथा मछलियों मे मकर नाम मत्स्य मै हैं। और स्रोत कहे प्रवाहरूप नदियों मे जाह्नवी गङ्गा भी मैहीं हैं। ॥३१॥ सर्ग कहे आका-शादि पदार्थों मे आकाश जो आदि मध्य अन्त में सदा वर्त्तमान सो मै हैं। अथवा

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्ज्जुन। अध्यात्मविद्याविद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥
३२॥ अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च। अहमेवाक्षयः कालः धाताहं
विश्वतोमुखः॥३३॥ मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्। कीर्त्तिः श्रीर्वाक्च नारी-
णां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥३४॥ बृहत्साम तथा साम्नां गायत्रीच्छन्दसामहम्। मासानां
मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥३५॥ द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्वं सत्ववतामहम्॥३६॥ वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्ड-
वानां धनञ्जयः। मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥३७॥ दण्डोदमयता-
मस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्। मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

भाषा अनुवाद

सृष्टि मे आदि मध्य अन्त मै हूं तथा हे अर्ज्जुन विद्यों मे अध्यात्म विद्या औ प्रवाद करनेवालों के बीच वादरूप मै हौं जिस से सिद्धान्त पक्ष थिर होना है॥ ३२॥ और अक्षरों के मध्य मे अकार अक्षर मै हूं और समासों के विषे उभय पद प्रधान द्वन्द्व समास और अक्षय प्रवाहरूप काल जो सो हम हैं और फल प्रदान करनेवालों मे विश्वतो मुख कहे सर्व्व फल विधान कर्त्ता मै हौं॥ ३३॥ संहार-कारियों के मध्य मे सर्व्व संहारकारी मृत्युरूप हम को जानो और होनेवाली वस्तुवों मे उद्भव पदार्थ हम हैं और स्त्रियों मे सप्त नारी कहे कीर्त्ति श्री वाणी स्मृति मेधा धृति क्षमा ये रूप मेरे ही हैं॥३४॥ और सामवेद मे मन्त्र ब्राह्मण गद्य पद्य भूत श्रुतियों के मध्य मे बृहत्साम नाम हम को जानो जिस से इन्द्र गाये जाते हैं और छंद बन्धयुक्त मन्त्रों के मध्य गायत्री हम हैं और मास कहे महिनों मे मार्गशीर्ष कहे अगहन मास हम हैं औ ऋतुवों मे वसन्त ऋतु मै हौं॥३५॥ छल वस्तुवों से द्यूत कहे जुआ मैहीं और तेजस्वियों मे तेज जो प्रताप सो मै तथा जय और व्यवसाय कहे उद्यम भी मै और सतोगुणी जितने हैं उन ने सतो गुण हम हैं॥३६॥ और वृष्णि वंशियों मे वासुदेव कृष्ण हम हैं जो तुम को उपदेश करते हैं और पाण्डवों मे अर्ज्जुन जो तुम सो मै हूं औ मुनियो मे व्यासदेव तथा कवियों मे उसना कहे शुक्र हम हैं॥३७॥ दम करनेवालों मे दण्डरूप हम तथा जीतनेवालों की नीति रीति हमे मानो गुह्य पदार्थों में मौन जो सो हम और ज्ञानवानों में

यच्चापि सर्व्वभूतानां बीजं तदहमर्ज्जुन । न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्
॥ ३९ ॥ नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप । एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्वि-
स्तरो मया ॥ ४० ॥ यद्यद्विभूति मत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम
तेजोऽंश सम्भवः ॥ ४१ ॥ अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्ज्जुन । विष्टभ्याहमिदं
कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां विभूतियोगो नाम
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप भी हमी हैं ॥३८॥ और यावत् जीवों मे जो बीज सो हे अर्ज्जुन हम हैं
और जो मेरे विना है सो कुछ नहीं है अर्थात् चराचर मेरे विना कुछ बाकी नहीं
है ॥ ३९ ॥ जिस हेतु हे परन्तप अर्ज्जुन मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है
इस से सम्पूर्ण कही नहीं जाय सकतीं हैं पर इतनी जो कहा सो उद्देश कहे संक्षेप
से मैने लक्षित कराया है ॥४०॥ यह सुनि के अधिक श्रवणाकांक्षी अर्जुन से भगवान
संक्षेपरूप अपनी सर्वरूपता कहै हैं कि ऐश्वर्य्ययुक्त अथवा बलयुक्त या प्रभावयुक्त
तथा विद्या बुद्धिरूप गुणयुक्त जो वस्तुमात्र है सो मेरे अंश औ प्रभाव से है यह
जानो अर्थात् उस मे मेरा विशेष अंश है ॥४१॥ अथवा हे अर्जुन इस सब बखेडे से
तुम को क्या प्रयोजन है सकल वस्तु में हम को देखो यह कहते हैं कि यावत् पदार्थ
मे मै व्याप रहा हैां यह जगत मेरा रूप है मोहि छोड़ि और कुछ मात्र भी
नहीं है ॥ ४२ ॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनो टीकायां योगशास्त्रे
विभूतियोग नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

एकादश अध्यायः।

अर्जुन उवाच। मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्। यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥ भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया। त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥२॥ एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर। द्रष्टुमि-

भाषा अनुवाद

श्रीभगवान कृष्णचन्द्र अति कृपा करि के अपनी विभूतिका विभव जब कहा तब सो सुनि कै दर्शनेच्छु अर्जुन को विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदित्यादि श्लोक से भगवान ने विश्वात्मक परमेश्वर स्वरूप प्रसङ्ग वशते देखाया तो अर्जुन भगवदुक्त पूर्व वचनों की प्रशंसा करते हुये अब एकादश अध्याय के आरम्भ में चारि श्लोक से कहते हैं कि अशोच्यानन्वशोचस्त्वमिदमित्यादि दूसरे अध्याय के ग्यारहें श्लोक से ले कर छठयें अध्याय तक मेरे शोक निवृत्ति के अर्थ परमात्मनिष्ठ अति गोपनीय आत्म औ अनात्म विचार के विषय जो वचन आप ने कहा उन से हम हन्ता औ ये शत्रुगण हमारे मारने योग्य ऐसी जो मेरी भ्रम सो नष्ट हो गई क्योंकि आत्मा को कर्तृत्व आदि कुछ नहीं है यह आप ने कहा सो ठीक ही है। १ ॥ और भूतों की सृष्टि तथा प्रलय भी आप ही से होती यह भी मैने विस्तार से सुना और हे कमलपत्राक्ष श्रीकृष्ण आप का अव्यय कहे अक्षय माहात्म्य भी आप से सुना इस से अब जीव सकल आप के अधीन हैं यह जाना और अहं कर्त्ता भोक्ता इत्यादि रूप मेरा मोह सम्पूर्ण दूर हो गया॥ २ ॥ और जो आप ने सप्तम अध्याय मे कहा कि भूत सृष्टि तथा प्रलय आदि कार्य्यों का कारण मै हूं और दशम अध्याय के अन्त मे कहा कि विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदिति

च्छामिते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥ मन्यसेयदितच्छक्यं मया द्रष्टुमितिप्रभो। योगे-
श्वरततोमेत्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥ श्रीभगवानुवाच। पश्य मे पार्थरूपाणि शतशो-
ऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥ पश्यादित्यान् वसून्
रुद्रानश्विनो मरुतस्तथा। बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥ इहैकस्थं
जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७॥

भाषा अनुवाद

और अब भी जो रूप आप अपना कहते हो यह सब ऐसा ही है इस मे हमै कुछ सन्देह नहीं हैं तो भी हे पुरुषोत्तम ज्ञान ऐश्वर्य्य बल वीर्य्य औ तेज से सम्पन्न कहे युक्त तुमारे रूप को अति आश्चर्य्य से मै देखने की इच्छा करता हूं ॥ ३ ॥ और मेरी इच्छा देखने को है इस हेतु आपको अपना रूप देखाबना अब उचित है यह कुछ वड़ी वात नहीं है परन्तु हे योगेश्वर जो वह आपका ईश्वरस्वरूप हमारे देखने योग्य होय और हम देख सकैं तो हे प्रभो वही अव्ययस्वरूप अपना हमै कृपाकरि दिखाबो यह अर्ज्जुनने भगवान से कहा ॥४॥ जब ऐसी प्रार्थना अर्ज्जुन ने किया तब भगवान श्रीकृष्ण अपने रूप के देखाबने का मनोरथ कर के अर्ज्जुन को सावधान होउ यह कहि करिके चारि स्लोकसे कहते हैं कि हे पार्थ अर्ज्जुन अपरिमित नाना प्रकारके अलौकिक मेरे रूप अब तुम देखो और वर्ण कहे शुक्ल कृष्ण आदि आकृति कहे कर चरण अङ्ग सब यथायोग मेरा दिव्य रूप नाना वर्ण आकृति का जो है सो तुम देखो जो देखा चाहते हो ॥ ५ ॥ अब सोई आप कहते हैं कि हे भारत सब आदित्य औ वसुगण रुद्रगण तथा अश्विनीकुमार औ मरुतगण ये सकल देवता को मेरी देह मे देखो और हे अर्जुन जो मेरा रूप न तुमने न और किसीने कभी देखा है ऐसा अद्भुत मेरा रूप अब देखो ॥६॥ और इस ब्रह्माण्ड के वीच हर एक स्थानों मे भ्रमण करते हुये जो सूर्य्य चन्द्र ग्रह नक्षत्रादि समस्त चराचर जिन को कोटि वर्ष मे भी कोई नहीं देखि सकै है सो सब स्थावर जङ्गम समेत सम्पूर्ण जगत इस मेरी शरीर मे अवयव कहे अङ्ग रूप देखो और गुडाकेश अर्ज्जुन जगत का आश्रय औ संसार की अवस्था तथा जय पराजय आदि जो कुछ और देखा चाहो सो सब मेरे रूप मे देखो ॥ ७ ॥ और जो अर्ज्जुन ने कहा कि वह रूप मेरे

नतुमांशक्यसेद्रष्टुमनेनैवस्वचक्षुषा। दिव्यंददामितेचक्षुःपश्यमेयोगमैश्वरम्॥ ८॥ सञ्जय
उवाच। एवमुक्त्वाततो राजन् महायोगेश्वरोहरिः। दर्शयामासपार्थाय परमं रूप-
मैश्वरम्॥९॥ अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्। अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यता-
युधम्॥१०॥ दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्। सर्वाश्चर्य्यमयं देवमनन्तं वि-
श्वतोमुखम्॥११॥ दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदिभाः सदृशी सास्याद्भास-
स्तस्य महात्मनः॥ १२॥ तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद्देवदेवस्य
शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥ ततः सविस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः। प्रणम्य शिरसा

भाषा अनुवाद

देखने योग्य होय तो देखावो इस पर कहते हैं कि हे अर्ज्जुन तुम अपने चर्म चक्षु
कहे चमडे की आंखों से हमारे उस रूप को न देख सकोगे इस से हम तुम को
अलौकिक दिव्य ज्ञानचक्षु देते हैं उन से वह मेरा ईश्वर रूप अघटन घटना
समर्थ का दर्शन करो॥ ८॥ इस प्रकार से कहि कर भगवान ने अर्जुन को
अपना विराट रूप देखाया तो वह रूप देखि अर्ज्जुन श्रीकृष्ण को जैसा जाना
औ देखा सोई छः श्लोक से राजा धृतराष्ट्र के प्रति सञ्जय कहते हैं कि हे
राजन् धृतराष्ट्र महात्मा श्रीकृष्ण योगेश्वर ने अर्जुन से ये सब बातें कह कर के
अपना ऐश्वर्य्यविशिष्ट परम स्वरूप अर्जुन को दर्शन कराया॥ ९ ॥ अब किस
प्रकार का वह रूप है सो कहते हैं कि अनेक हैं वक्त्र कहे मुख औ नेत्र तथा
अनेक अनेक हैं अद्भुत वस्तुओं का दर्शन जिस मे और अनेक दिव्य आभरण औ
दिव्य आयुध धारण हैं जिस मे ऐसा रूप भगवान ने अर्जुन को देखाया॥ १०॥
और दिव्य माल्य कहे पुष्प औ दिव्य अम्बर कहे वस्त्र तथा दिव्य गन्ध लेपन हैं
जिस रूप मे और नाना आश्चर्य्ययुक्त तथा अनन्त अपरिच्छिन्न औ सर्व्वत्र हैं मुख
जिस मे सो रूप देखाया॥ ११॥ और उस रूप की निरूपम प्रभा प्रकाश
करते हैं कि आकाश मे जो एक काल सहस्र सूर्य्य के उदय की प्रभा हो उठै तो
कदाचित उन महात्मा को कान्ति के कोई अंश की उपमा होय तो होय नहीं तो
उस रूप को उपमा कोई नहीं है॥१२॥ तिस के वादि क्या भया सो कहते हैं कि
उस समय अर्जुन को नाना प्रकार शरीर औ अनेक भाग मे स्थित समस्त जगत को

सादेवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥ अर्जुन उवाच। पश्यामि देवांस्तवदेवदेहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्। ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान ॥१५॥ अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामित्वासर्वतोऽनन्तरूपम्। नान्तंनमध्यंनपुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥ किरीटिनं गदिनंचक्रिणञ्च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्। पश्यामित्वांदुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥ त्वमक्षरं परमं वेदितव्यंत्वमस्यविश्वस्यपरं निधानम्। त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषोमतो मे ॥१८॥ अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्। पश्यामि त्वां दीप्तहु-

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण एक अपनो शरीर मे एक बारगी देखाया ॥ १३ ॥ तब तो अर्जुन वह आश्चर्यरूप भगवान का रूप देखि अतिशय कौतुकयुक्त होय आनन्द से पुलकित भये और मस्तक झुकाय प्रणाम करि हाथजोड़ि यह वचन बोलते भये ॥१४॥ अब सञ्जय सवह श्लोक मे अर्जुन के कहे हुये वचनों को कहते हैं कि हे कृष्ण आप की शरीर मे आदित्य औ यावत् भूतसमूह अर्थात् जरायुज मनुष्य पशु और अण्डज पक्षी सर्प आदि औ स्वेदज जुंआं मच्छड़ प्रभृति तथा उद्भिज्ज लता वृक्ष आदि ये सब देखता हौं और हे देव सकल देवता औ नाभि कमल में ब्रह्मा बैठे तथा ईश महादेव और दिव्य ऋषि वशिष्ठ आदि औ उरग तक्षक आदिकों को भी देखता हूं और पद्मासनस्थ ब्रह्मा किस प्रकार देख पड़ते सो कहते हैं कि पृथिवीरूप नाभि से उठा जो कमल स्वरूप सुमेरुगिरि तिस पर बैठे हुये ब्रह्मा को देखों हौं ॥१५॥ और अनेक बाहु अनेक उदर अनेक मुख अनेक नेत्र तुम को सर्वत्र मै देखता हूं परन्तु हे विश्वरूप तुमारा आदि मध्य अन्त मात्र हो नहीं देखता हूं ॥१६॥ और मुकुट गदा चक्रयुक्त तथा तेजःपुञ्ज सर्वत्र प्रकाशमान अति दुर्निरीक्ष्य वह्नि और प्रदीप्त अनल अर्क के समान तुम को मै देखता हूं ॥१७॥ जिस हेतु तुमारा ऐश्वर्य्य ऐसा अचिन्त्य हैं इससे तुम अक्षर जो परब्रह्म मुमुक्षु लोगों के जानने योग्य और तुम इस विश्व के निधान कहे परम आश्रयभूत हो इस से तुम नित्य औ नित्य धर्म के पालक औ अनादिपुरुष मेरे मत मे हो ॥१८॥ और अनादि मध्य अन्त कहे उत्पत्ति स्थिति लय रहित औ अनन्त प्रभाव तथा अनन्त बाहु औ चन्द्र सूर्य हैं नेत्र जिस के ऐसे

ताग्रवक्त्रंस्वतेजसाविश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥ द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तंत्वयैकेन दिशश्च सर्वाः । दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥ अमी हि त्वांसुरसंघाविशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयोगृणन्ति । स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षि सिद्धसंघावी-चन्तेत्वांस्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥ रुद्रादित्यावसवोयेचसाध्या विश्वेऽश्विनौमरुतश्चोष्म-पाश्च । गन्धर्व्व यक्षासुर सिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्व्वे ॥२२॥ रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रंमहाबाहोबहुबाहूरुपादम् । बहूदरंबहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वालोकाःप्रव्यथि-तास्तथाहम् ॥२३॥ नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् । दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिंनविन्दामिशमञ्चविष्णो ॥२४॥ दंष्ट्राकरालानिचते मुखानि दृष्ट्वै

भाषा अनुवाद

तुम को हम देखते हैं और अग्नि जिस के मुख मे जाज्वल्यमान है ऐसे आप अपने तेज से इस विश्वभर को सन्तप्त करते हुये तुम को मै देखों हों ॥ १९ ॥ और हे महात्मन् स्वर्ग औ पृथिवी तथा अन्तरीक्ष और सकल दिशा एक आप से व्याप्त हैं सो यह उग्र रूप आप का देखि के त्रैलोक्य अति भय खाता है ॥ २० ॥ और ये सम्पूर्ण देवता भय पाय तुमारे शरणागत हैं और कोई अति भीत होय दूर खड़े करजोड़े जय जय रक्ष रक्ष पुकार पुकार प्रार्थना करते हैं और महर्षि तथा सिद्धसङ्घ तुम को देखते स्वस्ति वचन उच्चारते हुये सम्पूर्ण स्तुति से स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥ और रुद्रगण आदित्यगण वसुगण औ साध्यगण देवगण तथा विश्वे देवा अश्विनीकुमार औ मरुत्गण पितृगण उष्ण द्रव्य पान करनेवाले पितृगण धर्म्म शास्त्र औ श्रुति मे ऐसे कहा कि पितृगण तब तक मौन भोजन करते जब तक अन्न उष्ण है और यावत् पितृ उद्देश करि के दिये हुये अन्न का गुण वर्णन रूप मधु वातादि वैदिक मन्त्र पाठ समाप्त न होय तावत् पितर अन्न खाते हैं और गन्धर्व्वगण यक्षगण और विरोचन प्रभृति असुरगण औ सिद्धगण ये सकल विस्मय-युक्त होके तुम को खड़े एकटक देखते हैं ॥२२॥ और हे महाबाहो यह महान् तुमारा रूप जिस मे बहुत मुख नेत्र बाहु ऊरु पाद उदर हैं और जो बहुतेरे बड़े बड़े दांतोंसे अति कराल कहे भयानक है इस को देखने सकल लोक व्यथायुक्त हैं और मै भी अति पीड़ित हों ॥२३॥ और मैहीं केवल डरता हूं यह नहीं ऐसा यह रूप

वक्कालानलसन्निभानि। दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥ अमीचत्वां धृतराष्ट्रस्यपुत्त्राःसर्वेसहैवावनिपालसंघैः। भीष्मद्रोणः सूतपुत्त्रस्तथासौस-हास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥ वक्त्राणि तेत्वरमाणाविशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयान-कानि। केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥ यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति। तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्का-

भाषा अनुवाद

आकाश को परश करनेवाला अर्थात् शून्यव्यापी तेज युक्त नाना वर्ण विशिष्ट विस्तार को प्राप्त औ जखजलाते हैं विशाल कहे वडे वडे नेत्र जिन के ऐसे तुम को अवलोकन करि के हे विष्णो हमारा अन्तरात्मा व्यथायुक्त है और मै इस रूप को देखते ऊये शान्ति तथा धीरज किसी तरह नहीं धर सकता हूं ॥ २४ ॥ और हे देवेश तुमारा मुख देखि कर डर के मारे हमै दिशा भूलि गई और सुख शान्ति पावते नहीं हे जगन्निवास अब प्रसन्न होउ अब कैसा मुख देखि कर डर भया सो कहते कि वडे वडे कराल दांतों से भयानक जो प्रलयाग्नि के समान है॥ २५ ॥ और जो कहा कि अन्यत् जो भावी पराजय है सो भी इस मेरी शरीर मे देखो सोई देखि अब अर्ज्जुन पांच श्लोक से कहते हैं कि जयद्रथ प्रभृति राजगण समेत ये धृतराष्ट्र के पुत्त्र दुर्य्योधनादि तुमारे मुख मे प्रवेश करते हैं और भीष्म द्रोण औ सूतपुत्त्र कर्ण ये भी तुमारे मुख मे प्रवेश करते हैं और यही सब नहीं प्रवेश करते हैं वलु प्रतियोधा अर्थात् हमारे पक्ष के भी शिखण्डी धृष्टद्युम्न प्रभृति को के समेत वे सब प्रवेश करते हैं॥ २६ ॥ और ये दुर्य्योधनादिक धावते ऊये तुमारे विकट दन्तों से कराल मुख मे प्रयोग करते हैं और तिन के वीच कोई कोई योद्धा मस्तक चर्ण ऊये तुमारे दांतों के मध्य सन्धि मे लपटे से देख पड़ते हैं॥ २७ ॥ अब उन के प्रवेश विषय मे दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे अनेक अनेक मार्ग से नदियों के धारा प्रवाह समुद्र के अभिमुख धाये भये जाय कर समुद्र मे प्रवेश करते हैं तैसे ही ये नरलोक के वीर सकल जाज्वल्यमान तुमारे मुख मे पैठते जाते हैं॥ २८ ॥ वे वश रूप प्रवेश मे नदी का दृष्टान्त कहि कर अब बुद्धिपूर्व्वक प्रवेश करने मे

ख्यभितोऽज्वलन्ति ॥२८॥ यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाविशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः । तथैव नाशाय विशन्ति लोका स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२६॥ लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः । तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥ आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देव वर प्रसीद । विज्ञातु मिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि जानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥ श्रीभगवानुवाच । कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः । ऋतेपित्वांनभविष्यन्तिसर्वे येऽवस्थिता. प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥ तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृ-

भाषा अनुवाद

दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे वडे वेग औ उत्साह से पतङ्ग जो पाखी ते सब नाश के निमित्त दीप शिखा मे जाय जाय गिरते औ मरते हैं तैसे ही अति वेग से ये सब वीर मनुष्य नाश के अर्थ तुमारे मुख मे आय आय कर प्रवेश करते हैं ॥ २६ ॥ और प्रवेश के अनन्तर फेरि क्या होता सो कहते हैं कि तुम भी अति भयानक जिह्वा लहलहाते ऊये मानो तैलोक्य लोल वे को रसना पसारी हैं अपने तेज से समग्र जगत को सन्तप्त करते भये उन सब वीरों को ग्रास कहे भक्षण करने की इच्छा करते हौ ॥ ३० ॥ हे महाराज जिस से तुमारा ऐसा उग्र रूप है इस से आप को हौ सो कहो और हम तुम को प्रणाम करते हैं हे देवश्रेष्ठ तुम मेरे पर अब प्रसन्न होउ और आदि पुरुष जो तुम सो तुम को मैं जाना चाहता हूं और एवम्भूत जो तुम तुमारी प्रवृत्ति कहे वार्त्ता कुछ भी हम नहीं जान शकते हैं ॥३१॥ इस प्रकार अर्ज्जुन से प्रार्थना किये गये श्रीभगवान तीनि श्लोक से कहते हैं कि मै सकल लोक का क्षय करनेवाला कालरूप हौं और प्राणियों को संहार करने की इच्छा करि इस लोक मे प्रवृत्त कहे प्रगट भया हौं सो एक तुम को छोडि और कोई हम से न वचैंगे अर्थात् प्रति सेना मे जो भीष्म द्रोण आदि योद्धा हैं वे सब के सब मरेङ्गे ॥३२॥ जिस हेतु ऐसा होनहार है इस से तुम युद्ध के अर्थ उठो और देवतों से भी अजय जो भीष्म द्रोण आदि वीर सो अर्ज्जुन से पराजित भये इस यश को लाभ करो और शत्रुओं का विनाश करि के सम्पूर्ण राज्य भोग करो और ये जो तुमारे हैं शत्रु तिन को युद्ध के पूर्व्व हीं काल रूप मैने यद्यपि हत

इम्। मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥ द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्। मया हतां स्त्वं जहिमाव्यथिष्ठायुध्यस्वजेता सिरणेसपत्नान् ॥३४॥ सञ्जय उवाच। एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी। नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥ अर्जुन उवाच। स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च। रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघा ॥३६॥ कस्माच्च तेन नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्म-

भाषा अनुवाद

करि राखा हैं तौभी हे सव्यसाचिन् अर्ज्जुन तुम निमित्त मात्र होउ सव्यसाची उस को कहते जो बांये हाथ से युद्धादि कार्य्य करि सकै है ॥३३॥ और जो पूर्व्व मे अर्ज्जुन ने शङ्का किया कि हम इन को जीतेङ्गे या येई हम को मार लें यह हम नहीं जानते हैं उसका कारण कहते हुये कहते हैं कि जिन से तुमको शङ्का भई थी वे सब मुझसे हत भये हैं जो द्रोण भीष्म जयद्रथ कर्ण तथा और और जो वीर उन सबको तुम जय करो और उनसे रत्तीभर तुम न डरो तुम अवश्य ही जीतोगे ॥३४॥ तिसके बादि जो भया सो सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि ये श्रीकृष्णके वचन सुनि करि कम्पमान कलेवर किरीटी अर्जुन हर्ष औ भयके मारे गदगदकण्ठ अति डरसे डरे ऐसे हाथ जोडि श्रीकृष्ण को प्रणाम करके वच्यमाण कहे आगे कहैङ्गे जो बातैं कहते भये ॥३५॥ अब इस स्लोक से अर्ज्जुन कहते हैं कि हे हृषीकेश जिस हेतु तुम ऐसे अद्भुत प्रभाव से युक्त औ भक्तवत्सल हौ इस से तुमारा माहात्म्य सङ्कीर्त्तन करने से केवल हमीने जो हर्ष पाया सो नहीं किन्तु ब्रह्माण्डभर अति हर्षित औ प्रीतियुक्त है यह उचित है और इस ब्रह्माण्ड मे जो सब सज्जन प्रसन्न औ राक्षस सकल डर के मारे दश दिशा मे भागे फिरते हैं और योग तप मन्त्र आदिके द्वारा सिद्धगण तुम को प्रणाम करते हैं यह कुछ आश्चर्य्य नहीं है ॥३६॥ और सब के हर्ष औ प्रणाम करने मे अब हेतु कहते हैं कि हे महात्मन् हे अनन्त हे जगन्निवास श्रीकृष्ण क्यों न ये सब प्रणाम करैङ्गे कि जो तुम ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता कहे जनक औ गुरु हो और सत् कहे व्यक्त प्रगट जो जगत औ असत् जो अव्यक्त प्रकृति माया इन दोनो से पर अर्थात् मूल कारण रूप अक्षर कहे अविनाशी जो ब्रह्म सो

णोऽप्यादिकर्त्रे। अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥ त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्। वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥३८॥ वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते॥३९॥ नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वतएव सर्व। अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोसि ततोऽसि सर्वः॥४०॥

भाषा अनुवाद

भी तुम हो तो नवधा भक्ति द्वारा जो सब तुम को प्रणाम करते हैं सो उचित है और सम्पूर्ण देवतों के आदि भूत जो अनादिपुरुष तुम सो इस विश्व के पर निधान कहे लय स्थान औ विश्व के ज्ञाता औ जो कुछ जानने के योग्य वस्तु है सो तुम हो और परम धाम जो विष्णुपद सो भी तुम हो इस से हे अनन्तरूप कृष्ण तुम इस विश्व मे व्याप्त हो इन सात हेतुवों के द्वारा भी तुम हीं नमस्कार योग्य हो॥३७॥३८॥ जिस हेतु तुम सर्व्व देवरूप हो इस से तुम सब के नमस्कार योग्य हो ऐसे वचनों से भगवान की स्तुति करि के अब अर्ज्जुन आप प्रणाम करते हैं कि वायु यम अग्नि वरुण चन्द्र प्रजापति ब्रह्मा औ पितामह ब्रह्मा के भी जनक जो तुम सो मेरे सहस्र सहस्र प्रणाम तुम को हैं फेरि फेरि भी सहस्र सहस्र प्रणाम हैं॥ ३९ ॥ भक्ति औ श्रद्धा तथा आदर की अधिकाई से भगवत् को नमस्कार करने से तृप्ति न पाय कै पुनर्व्वार और भी प्रणाम करते हैं कि हे सर्व्वात्मन् तुमारे सन्मुख औ पृष्ठभाग मे प्रणाम करता हूं और तुमारे सब ओर भी मेरी नमस्कार पहुंचै और भगवान की सर्व्वात्मकता सिद्ध करने की आकांक्षा पर कहते हैं कि जिस की अनन्त सामर्थ्य औ अपरिमित पराक्रम एवम्भूत जो तुम विश्व के भीतर बाहर सम्यक् प्राप्त हो जैसे सुवर्ण नाना रूप से भूषणों मे व्याप्त है औ मृत्तिका घट आदि पात्रों मे जैसे व्याप्त है तैसे विश्व मे आप व्याप रहे हो॥ ४० ॥ अब दो श्लोक के द्वारा भगवान से अर्जुन अपनी अपराध क्षमा करावते हैं कि हे कृष्ण हे यादव हे सखे ऐसे वचनों से आप को अपना सखा मानि जो हठ से मैने तुमारी यह महिमा न जानि के अथवा भूल से या प्रणय कहे अति प्रीति से कहा सो मेरी अनजान की असावधान की

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हेकृष्ण हेयादव हेसखेति। अजानतामहिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोसि विहार शय्यासन भोजनेषु। एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामयेत्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥ पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्। नत्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥ तस्मात्प्रणम्य प्रणिधायकायं प्रसादयेत्वामहमीशमीड्यम्। पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युप्रियः प्रियायार्हसि देवसोढुम् ॥४४॥ अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वाभयेनच

भाषा अनुवाद

अपराध चूक आप क्षमा करो ॥४१॥ और हे अच्युत विहार शयन भोजन क्रीड़ा आदि मे अर्थात् सखागण रहित निर्जन स्थान मे जहां हम और तुम को छोड़ और कोई न था ऐसी जगह मे अथवा परिहास करनेवाले मित्रों के बीच मे जो हम ने हसने के लिये तिरस्कार आप का किया है सो सब अचिन्त्य प्रभाव आप से हम क्षमा करवाबते हैं ॥ ४२ ॥ अब भगवत् का अचिन्त्य प्रभाव कहते हैं कि हे अप्रतिम प्रभाव नहीं हैं प्रतिमा कहे उपमा ऐसा निरूपम प्रभाव है जिस का सो तुम इस चराचरात्मक लोक के पिता कहे उत्पत्ति करनेवाले पूजनीय तथा गुरु के भी गुरु हो इस हेतु परमेश्वर जो तुम तुमारे समान का त्रिलोकी मे कोई नहीं है तो अधिक फेर और कहां होय सकै है यह अर्जुनने कहा ॥४३॥ इस से हे ईश स्वामिन् स्तुति के योग्य ईश्वर जो आप तिन को मै शरीर से दंडकी नाईं अष्टाङ्ग प्रणाम करिके प्रसन्न करावता हूं कि जैसे पुत्र की अपराध क्षमा करि के पिता सहि लेता और मित्र की अपराध मित्र मन मे नहीं धरता तथा पत्नी की अपराध पति भी प्रीति से सह्य करता है तैसे ही हे देव पिता औ मित्र तथा नाना रूप आप भी मेरो अनजान बालक समान प्रीतिपात्र सेवक की अपराध क्षमा कीजिये ॥ ४४ ॥ इस प्रकार से क्षमा कराय के अब अर्ज्जुन दो श्लोक के द्वारा भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हे देव श्रीकृष्ण अदृष्टपूर्व यह आप का रूप देखि के मै अति प्रसन्न भया हौं परन्तु भय के मारे मेरा मन थिर नहीं है इस से हे देवेश जगत के निवास अब मेरे पर प्रसन्न होउ और वही पूर्व्वरूप देखावो यह प्रार्थना करता हूं ॥४५॥ अब सोई पूर्व्वरूप कहते है कि हे सहस्र-

प्रव्यथितं मनमे। तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥ किरीटिनंग
दिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव। तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव
विश्वमूर्त्ते ॥४६॥ श्रीभगवानुवाच। मया प्रसन्नेन तवार्ज्जुनेदं रूपंपरं दर्शितमात्मयोगम्।
तेजोमयंविश्वमनन्तमाद्यं यन्मेत्वदन्येन नदृष्टपूर्वम् ॥४७॥ न वेदयज्ञाध्ययनैर्नदानै र्नच
क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः। एवं रूपः शक्योऽहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥
मातेव्यथामाचविमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्। व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं

भाषा अनुवाद

बाहो हे विश्वमूर्त्ते सोई किरीट मुकुट दिये गदा औ चक्र हाथ मे लियें आप को देखनेकी इच्छा करता हौं इस से अब आप इस विश्वरूप को संहार करि के वैसेही चतुर्भुजरूप स्वरूप धारण करो ॥४६॥ भगवान श्रीकृष्ण जब ऐसे प्रार्थना कियें गये तब अर्जुन को समझाते हुयें तीनि श्लोक से यह कहने लगे कि हे अर्ज्जुन तुम भय काहे लिये करते हो मैने अति प्रसन्न होय अपनी योगमाया की सामर्थ्य से यह अपना अपूर्व्व उत्तम रूप तुम को कृपा करि के देखाया है और इस तेजमय विश्वात्मक आदि अन्त रहित मेरे रूप को तुमारे समान भक्त के विना किसी और भक्त ने कभी भी नहीं देखा है ॥४७॥ और यह अति दुर्लभ दर्शन पाय के तुम अब कृतार्थ भये हौ सोई कहते हैं कि न वेद अध्ययन से न यज्ञ अध्ययन कहे यज्ञविद्या जो कल्पसूत्र आदि कर्मकाण्ड के अर्थ संग्रह कियें ग्रन्थ तिन से अर्थात् न यज्ञविद्याध्ययन से और न दान से न अग्निहोत्र आदि क्रियों से न चान्द्रायण आदि उग्र कठिन तपस्यों के द्वारा यह मेरा रूप नरलोक मे देख के शक्य है सो हे कुरुप्रवीर अर्ज्जुन तुम को छोड़ि और कोई नहीं नृलोक मे इस रूप को देख शका है सो तुम मेरे अनुग्रह से इस मेरे रूप का दर्शन करि अपने को कृतार्थ भयें जानो ॥४८॥ जो ऐसा घोर भयानक रूप देखि तुम को क्लेश होता है तो जिस मे तुमै मेरा रूप देखि व्यथा औ मूढ़ता न होय इस से अब तुम विगतभय प्रसन्न चित्त होय फेरि हमारा सोई वह पूर्व्वरूप जो देखा चाहते हो सो देखो ॥४९॥ ऐसे वचन कहि कर भगवान ने अर्ज्जुन को वही पूर्व्वरूप अपना देखाया यह सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि महात्मा वासुदेव श्रीकृष्ण जी ने अर्ज्जुन को सोई

तद्देवमे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥ सञ्जय उवाच। इत्यर्जुनंवासुदेवस्तथोक्त्वास्वकंरूपंदर्श-
यामास भूयः। आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥ अर्जुन
उवाच। दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन। इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं
गतः ॥५१॥ श्रीभगवानुवाच। सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम। देवाअप्यस्य रूपस्य
नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥ नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो
द्रष्टुं दृष्टवानसि यन्मम ॥५३॥ भक्त्यात्वनन्ययाशक्यो अहमेवंविधोऽर्ज्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुञ्च
तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥५४॥ मत्कर्म्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्व्व-
भूतेषु यः समामेति पाण्डव ॥५५॥ इति विश्वरूपदर्शनोनामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

भाषा अनुवाद

चतुर्भुज किरीटधारी अपना शान्तस्वरूप फेरि देखाया और डरे भये अर्ज्जुन को आश्वास दिया ॥५०॥ तिसके अनन्तर निर्भय होय अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन तुमारा यह शान्त मनुष्य स्वरूप देखि मै अब प्रसन्नचित्त औ सावधान भया हौं ॥५१॥ तिस के बाद भगवान अपनी कृपा की दुर्लभता देखावते हैं कि जो यह हमारा विश्वरूप स्वरूप तुम ने देखा इस का दर्शन अति दुर्लभ है देखो देवतागण भी इस रूप के दर्शन की इच्छा सर्व्वदा करते हैं परन्तु इस का दर्शन नहीं पावते हैं ॥५२॥ उस अपने रूप के दुर्लभ दर्शन मे कारण कहते हैं कि तुम ने जो रूप मेरा देखा वह वेद अध्ययन औ तपस्या या दान यज्ञ के द्वारा किसी को देखने की सामर्थ नहीं है ॥५३॥ तो फेरि कौन उपाय से आप दर्शन दे शकते हौ जो यह कहो तो कहते हैं कि अर्जुन अनन्य कहे मदेक चित्त भक्ति ही के द्वारा ऐसे विश्वरूप से हम प्रगट हो शकते हैं और वह भक्त भी हमै जानि शकै है और हे परन्तप अर्जुन शास्त्र से प्रत्यक्ष औ तदात्म रूप प्रवेश अर्थात् उस रूप मे लीन हम कराय शकते हैं और कोई भी उपाय नहीं है ॥५४॥ अब शास्त्र के अर्थ का सारांश परम रहस्य कहते हैं कि हे पाण्डव सत्कर्म्म कृत कहे मेरा प्रीति के अर्थ जो कर्म्म करै है और मत्परम कहे मैहीं हौ परम प्रयोजन जिस को और मद्भक्त कहे मेरे आश्रित यथा पुत्र स्त्री धन मे आसक्ति हीन और भूत कहे प्राणी मात्र से वैर रहित जो है सोई हम को प्राप्त होता है ॥५५॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥११॥

श्रीमद्भगवद्गीता ।

द्वादश अध्यायः ।

अर्जुन उवाच । एवं सततयुक्ता ये भक्ता स्त्वां पर्य्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषांके योगवित्तमा ॥१॥ श्रीभगवानुवाच । मय्यावेश्यमनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धयापरयोपेता स्ते मे युक्ततमामताः ॥ २ ॥ ये त्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते । स

भाषा अनुवाद

एकादश अध्याय के अन्तिम श्लोक से और नवम अध्याय के एकतिस श्लोकादि से भी सगुण भगवद्भक्त ही को श्रेष्ठ कहा और तेषां ज्ञानी नित्य युक्त एक भक्ति र्विशिष्यते इत्यादि सप्तम अध्याय के सत्रहें श्लोक से और सर्व्वं ज्ञान प्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि इत्यादि चतुर्थ अध्याय के छत्तिस श्लोकादि से भी ज्ञानी हीं को श्रेष्ठ कहा है सो सगुण निर्गुण उपासना मे कौन उपासना श्रेय है अर्थात् जो भक्त सर्व्वज्ञ विश्वरूप सर्व्वशक्तिमान रूप तुम को ध्यान करता है सो कि जो अव्यक्त औ निर्व्विशेष अविनाशी ब्रह्म की उपासना करता है सो दोनो के मध्य मे कौन अतिशय योगवित् अर्थात् श्रेष्ठ है यह अर्जुन भगवान से पूछते भये ॥१॥ तिन दोनो के बीच मे सगुण उपासना सुख साध्य है इस हेतु से भगवान सगुण उपासक भक्त को श्रेष्ठ कहते हुये उत्तर देते हैं कि सर्व्वज्ञत्व आदि गुण विशिष्ट परमेश्वर स्वरूप मेरे मे मन को एकाग्र करि के श्रद्धापूर्वक मत्प्रीत्यर्थ कर्म्म अनुष्ठान करने से मेरे मे निष्ठ कहे युक्त होय जो हमारी आराधना करता है सोई हमारे मत से युक्ततम कहे अति श्रेष्ठ है सो तुम मत्प्रीत्यर्थ कर्म्म करो ॥ २ ॥ और अक्षर ब्रह्म का लक्षण स्वरूप कहते हैं कि ब्रह्म अनिर्देश्य अर्थात् यह है ऐसा है इस कहने के अयोग्य है क्यों कि अव्यक्त कहे रूपादि रहित है औ

र्वंवगमचिन्त्यञ्चकूटस्थमचलंध्रुवम्॥३॥ सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्व्वत्रसमबुद्धयः। ते प्राप्नु-
वन्तिमामेव सर्वभूतहितेरताः॥४॥ क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता
हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्यमत्पराः।
अनन्ये नैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥६॥ तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भाषा अनुवाद

सर्व्वव्यापी तथा निराकार हेतु से अचिन्त्य औ कूटस्थ अर्थात् कूट जो माया प्रपञ्च ब्रह्माण्ड तिस का अधिष्ठान कहे आश्रय रूप स्थित है और अचल कहे व्यापार रहित तथा ध्रुव कहे अचल नित्य हानि वृद्धि शून्य है तीन चारि के श्लोक का अर्थ एक साथ है॥ ३॥ जो निर्गुण के उपासकों को क्लेश अधिक है तो फेरि क्या निर्गुण के उपासक श्रेष्ठ नहीं हैं इस शङ्का पर दो श्लोक से कहते हैं कि जो समदर्शी जन इन्द्रियगण को अपने वशीभूत कर के अक्षर कहे अविनाशी ब्रह्म का ध्यान करते हैं सो सकल भूतों के हितकारी निर्गुण उपासक मनुष्य भी हम को प्राप्त होते हैं॥ ४॥ जो निर्गुण उपासक भी तुम को प्राप्त होते हैं तो सगुणोपासक युक्त कहे श्रेष्ठ जो आप ने कहा सो कैसे सम्भव होय है इस शङ्का को निवारण करते हुये तीनि श्लोक से क्लेश हेतुक विशेष कहते हैं कि अव्यक्त निर्विशेष अक्षर ब्रह्म मे जिस का चित्त आसक्त भया उस को अधिक क्लेश होय है क्यों कि अव्यक्त ब्रह्म विषयक जो निष्ठा सो देहाभिमानिनी मनुष्य को अति दुःख से प्राप्त होती है कारण यह कि स्थूल शरीर मे आत्म बुद्धि विशिष्ट मनुष्यों के मन को अन्तर्मुख वृत्ति का प्रत्येक कहे हर एक चैतन्य मे निमग्न होना सर्वथा दुष्कर है॥ ५॥ परन्तु मेरे भक्त मेरी कृपा से अनायास सिद्ध होते हैं यह दुई श्लोक के द्वारा कहते हैं कि जो मनुष्य परमेश्वर स्वरूप मेरे को सकल कर्म्म अर्पणपूर्व्वक मत्परायण कहे अनन्य भाव से मेरे मे तत्पर होय हैं ते मेरा ध्यान उपासना करते हैं अनन्य भाव कहे नहीं हैं अन्य वस्तु मे भाव प्रीति जिस मे सो अनन्य भाव है ॥६॥ इस प्रकार से जिनो ने मेरे मे चित्त लगाया है उन का हे पार्थ तत्काल इस मृत्युयुक्त संसार सागर से उद्धार करनेवाला मै हौं अर्थात् एकाग्र चित्त भक्तजनों को मै संसार दुख से उद्धारकर्त्ता हूं॥ ७॥ इस से सङ्कल्प विकल्पात्मक मन को

भवामिनचिरात्पार्थमय्यावेशित चेतसाम्॥७॥ मय्येवमन आधत्स्व मयिबुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसिमय्येवअतऊर्द्ध्वं नसंशय:॥८॥ अथ चित्तं समाधातुं नशक्नोसिमयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेनततोमामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥६॥ अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसिमत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥ अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमा-
श्रित:। सर्व कर्मफलत्यागं तत: कुरुयतात्मवान्॥११॥ श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञाना-

भाषा अनुवाद

मेरे मे थिर करो और व्यवसायात्मिका बुद्धि को भी मेरे मे लगाबो तो देह के अन्त मे मेरी कृपा से तत्त्व ज्ञान को प्राप्त होय परमात्मा रूप मेरे मे स्थिति कहे वास करोगे इस मे कुछ संशय नहीं हैं सोई श्रुति कहती हैं कि सगुण उपासक को वेदान्त होने पर वह उपास्य देव परब्रह्म मन्त्र उपदेश करि कै अपरोक्ष कहे साक्षात् कर देव है॥ ८॥ और सगुण उपासना मे असक्त पुरुष को सुगम उपाय कहते हैं कि जो चित्त को मेरे मे थिर करने न शकै तो हे धनञ्जय अर्जुन विषय मे विक्षिप्त चित्त को विषयों से पुन: पुन: फेरि कर मेरे स्मरण की अभ्यास से हमै प्राप्त होने को यत्न करै॥६॥ और जो अभ्यास करने मे समर्थ न होउ तो मत्प्रीत्यर्थ एकादशी उपवास व्रत पूजा औ नाम का कीर्त्तन आदि कर्म जो धर्म हैं उन मे तत्पर होउ क्यों कि मत्प्रीत्यर्थ कर्म करने से भी मुक्ति को प्राप्त होउगे॥१०॥ और इस भगवद्धर्म मे भी असमर्थ पुरुष को दूसरी उपाय कहते हैं कि जो मत्प्रीत्यर्थ कर्म भी न करि शकै तो एक मेरी शरण होय औ चित्त वशीभूत करि कै यावत् कर्मफल का परित्याग करै इस का तात्पर्य्य यह है कि अन्तर्य्यामी रूप ईश्वर की प्रेरणा से हमैं कर्म कर्त्तव्य है और इन कर्मों का दृष्ट अदृष्ट फल परमेश्वर के आधीन है ऐसा भाव मेरे मे आरोप करि कै फल की इच्छा त्याग पूर्वक कर्म करने से भी मेरी कृपा से कृतार्थ होउगे॥ ११॥ और उक्त फल त्याग की प्रशंसा करते हैं कि सगुण की उपासना मे सम्यक् ज्ञान रहित जो अभ्यास तिस से युक्ति रहित उपदेश पूर्वक यह सगुण उपासना का अङ्ग भूत जो परोक्ष ज्ञान सो श्रेष्ठ है और उस ज्ञान से भी ध्यान अधिक है और तिस से भी कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है क्यों कि कर्म औ कर्मफल मे आसक्ति निवृत्त होने पर मेरी अनुग्रह से शीघ्र संसार की

ध्यानं विशिष्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥ अद्वेष्टा सर्व-
भूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥ सन्तुष्टः
सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः । मय्यर्पित मनो बुद्धि र्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः
॥१५॥ अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनगतव्यथः । सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे
प्रियः ॥१६॥ यो नहृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति । शुभाशुभ परित्यागी भक्ति-

भाषा अनुवाद

शान्ति होय है ॥१२॥ अब पूर्व उक्त भक्त के ऊपर शीघ्र भगवत की कृपा होने का हेतु रूप सकल धर्म आठ श्लोक से कहते हैं कि साधारण से सब जीवों के साथ निर्वैर और सब का मित्र तथा दयावान् अर्थात् समान से मैत्री औ हीन पर कृपा कारी और ममता विहीन अहङ्कार शून्य औ कृपालुता से दूसरे का सुख दुख देखि अपने सुख दुख के समान जो जानै है ऐसे अपने सुख दुख मे भी समबुद्धि औ क्षमाशील पर मेरी शीघ्र प्रसन्नता होती है ॥१३॥ और हानि लाभ मे प्रसन्न चित्त तथा अप्रमत्त वशीभूत स्वभाव औ सत् विषय मे दृढ़ निश्चय और मेरे मे अर्पण किया है मन बुद्धि जिसने ऐसा जो मेरा भक्त सो हमै अति ही प्रिय है ॥१४॥ और जिस पुरुष से लोग भय के द्वारा उद्वेग कहे चित्त क्षोभ नही पावते और जिस को लोगों से उद्वेग नहीं होता है और जो इष्ट होने से प्रसन्न औ अनिष्ट होने से अप्रसन्न तथा आमर्ष कहे दूसरे की लाभ न देखि सकता ये सब जिस के नहीं हैं और भय उद्वेग से मुक्त जो मेरा भक्त सो मोहि परम प्रिय है ॥१५॥ और जिस को अनायास प्राप्त धनकी भी इच्छा नहीं और भीतर बाहर शुचि कहे पवित्र है औ दक्ष कहे आलस्य रहित तथा पक्षपात वर्जित औ गतव्यथ कहे आधिव्याधि शून्य और सर्व्व आरम्भ कहे उद्यम का त्यागी ऐसा जो सो भक्त मेरा प्रिय है आधि-मन की चिन्ता है और व्याधि रोग को कहते हैं ॥ १६ ॥ और जो प्रिय वस्तु पाय के सन्तुष्ट औ अप्रिय पायके असन्तुष्ट न होय और इष्ट के नाश होने पर भी शोचता नहीं और किसी अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा भी जिस के मन मे नहीं है और शुभ अशुभ कहे पुण्य पाप का भी त्यागी कहे त्याग का अधिकारी है ऐसा भक्ति

मान यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥ समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । शीतोष्ण
सुख दुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥ तुल्यनिन्दा स्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥ ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपा-
सते । श्रद्दधानामत्परमा भक्ता स्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां
सूपनिषत्सु भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

भाषा अनुवाद

यक्त मनुष्य मुझे प्रिय होता है ॥१७॥ और शत्रु मित्र दोनो के प्रति समान कहे
प्रीति विरोध रहित और मान अपमान मे भी हर्ष विषाद रहित है और शीत
उष्ण सुख दुख में एकरूप है तथा सङ्गवर्जित कहे विषयों में आसक्ति रहित पुरुष
जो है ॥ १८ ॥ और निन्दा स्तुति जिस को तुल्य हैं और जो मौनी कहे विरुद्ध
वचन तथा बकवाद रहित होय जो कुछ यथा लाभसे सन्तुष्ट है तथा अनिकेत कहे
निवास स्थान शून्य और स्थिरमति अर्थात् वशीभूत चित्त हैं जिन के ऐसे गुणयुक्त
नर मेरे को परम प्रिय हैं ॥१९॥ यही सब पूर्व्वोक्त धर्म्म अमृत कहे मुक्ति रूप हैं
इन को यथोक्तरूप से जो श्रद्धायुक्त उपासना करते हैं औ मत्परता कहे मैहीं
हौं परम परायण जिन को ऐसे मेरे भक्त मुझे अतिशय प्रिय होते हैं ॥ २० ॥
इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी भाषा टीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

त्रयोदश अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥ क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्व्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्र क्षेत्रज्ञयो

भाषा अनुवाद

अब इस तेरहें अध्याय मे तत्त्वज्ञान वर्णन किया जाता है कि हे पार्थ अर्ज्जुन मृत्युयुक्त संसार सागर से सगुण उपासक अपने भक्तों को मै उद्धार करता हूं इत्यादि द्वादश अध्याय के सप्तम श्लोक मे भगवत अङ्गीकृत जो संसारोद्धारण सो ब्रह्मज्ञान के विना असंभव है इस हेतु तत्त्वज्ञान उपदेश करने के अर्थ भगवान यह प्रकृति पुरुष विवेक अध्याय का आरम्भ करते हैं कि जो प्रकृति पुरुष विवेक सप्तम अध्याय के पञ्चम श्लोक मे परा अपरा प्रकृति द्वय रूप कहा है जिस प्रकृति के द्वारा अविवेक वशते यह चेतन का अंश जीव भाव को प्राप्त होय संसारी होता हैं और जिस प्रकृति द्वय के द्वारा जीव के उपभोगार्थ परमेश्वर भी सृष्टि आदि कर्म्म से प्रवृत्त होते हैं क्षेत्र पद वाच्य परस्पर भिन्न स्वरूप द्वय प्रकृति को स्वरूप से निरूपण करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे कौन्तेय क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ दोनो के विचारकारी लोग इस भोगायतन भोगसाधन शरीर को क्षेत्र कहते हैं क्यों कि यह शरीर संसार वृक्ष के अंकुर होने की भूमि है और जो इस शरीर को जानता अर्थात् हम हमारा यह विचारता है उस को क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ विवेकी जन क्षेत्रज्ञ कहते हैं जिस हेतु क्षेत्रज्ञ किसान के समान इस देह रूप क्षेत्र का फल भोग करता है॥ १॥ क्षेत्रज्ञ का व्यवहारिक स्वरूप कहा अब पारमार्थिक संसारि स्वरूप कहते हैं कि हे भारत अर्ज्जुन सोई

ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥ तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्। स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥ ऋषिभि र्बहुधा गीतं छन्दोभि र्विविधैः पृथक्।

भाषा अनुवाद

क्षेत्रज्ञ संसारी जो जीव तिसै यावत् क्षेत्र का आधार रूप हम को जानो क्यों कि सामवेद के तत्त्वमसि महावाक्य का लक्ष्य अर्थ चिदंश कर के मेरे ही रूप का प्रतिपादन किया है और क्षेत्र यथा क्षेत्रज्ञ इन दोनो का जो पृथक् रूप ज्ञान सोई मेरे मत से मुक्ति का हेतु हैं और सब ज्ञान प्रतिबन्धक के कारण हैं तथाहि सोई कर्म जो बन्ध का हेतु न होय और सोई विद्या जो मुक्ति को हेतु होय वाको कर्म सब परिश्रम के हेतु और विद्या सकल शिल्पनैपुण्य मात्र अर्थात् कारीगरी की चातुरी है यह जानो ॥ २ ॥ यद्यपि यहां चौविश प्रकार की प्रकृति को क्षेत्र कहते हैं तौ भी देह रूप परिणाम कहे रूपान्तर प्राप्ति को प्राप्त भई वही प्रकृति में अहं रूप अविवेक हेतु से सोई प्रकृति के विवेक के अर्थ इस शरीर को क्षेत्र मात्र कहा उसी के विस्तार की इच्छा से प्रतिज्ञा करते हैं कि मेरा किया हुआ जो उक्त स्वरूप जड़ दृश्य आदि स्वभाव और यादृश इच्छादि धर्मयुक्त और जैसे इन्द्रियादि विकार में युक्त और जैसे प्रकृति पुरुष के संयोग से जन्मै और जिस प्रकार स्थावर जङ्गम भेद से नाना रूप होय सोई जो क्षेत्रज्ञ स्वरूप से जो है और अचिन्त्य ऐश्वर्य्य के द्वारा जो जो प्रभाव से सम्पन्न होय है सो सब संक्षेप से हम से श्रवण करो यह भगवान अर्जुन से कहा ॥ ३ ॥ जिस के कहे विस्तार वचन का यह संक्षेप है तो इस पर कहते हैं कि जो वशिष्ठादिकोंने योग शास्त्र मे ध्यान धारणादि का विषयरूप परमेश्वर का विराटरूप नाना-प्रकार से निरूपण किया है और जो वशिष्ठादिकों ने नित्य नैमित्तिक काम्य कर्म्म आदि विविध प्रकार से वेद के द्वारा भिन्न भिन्न अनेक पूजनीय देवता रूप से प्रगट किया है और ब्रह्मसूत्र अर्थात् जिस से ब्रह्म का निरूपण होता है तात्पर्य्य यह कि जिस से समस्त भूत जन्मते हैं इत्यादि तटस्थ लक्षण रूप उपनिषद वाक्य जो ब्रह्मसूत्र और जिस के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार ज्ञान किया जाता है एता-वता स्वरूप लक्षण अर्थात् सोई ब्रह्म सत्य है ऐसा ज्ञान और आनन्दरूप इत्यादि

ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥ महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्चचेन्द्रियगोचराः ॥५॥ इच्छाद्वेषःसुखंदुःखंसङ्घातश्चेतनाधृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥ अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्ज-

भाषा अनुवाद

श्रुतियों ने हेतु युक्त पद कहा अर्थात् हे सौम्य इस सृष्टि के पूर्व यह जगत् सत् मात्र था असत् से सत् कैसे जन्मे है जो इस हृदय आकाशमे आनन्दरूप आत्मा न होता तो अपान औ प्राणवायु को चेष्टा कौन करता इस से यह आत्मा ही प्राणियों को आनन्दयुक्त करै है इन सब श्रुति विशिष्ट ब्रह्म सूत्रादिकों से कहा है सोई संक्षेप से सुनो अथवा नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त उपासना रूप साधन चतुष्टय से सम्पन्न होने के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा करै इत्यादि वेदव्यास प्रणीत को ब्रह्मसूत्र कहते हैं परमेश्वर के ईक्षितृत्व हेतु से प्रकृति को जगत का कारण नहीं कहि सकते हैं और श्रुतियों मे आत्मा को आनन्दमय कहा है इस से ये आनन्दमय हैं इत्यादि युक्तियों से निश्चित है अर्थ जिन सूत्रों का सोई कहा हेतु मद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥ और क्षेत्र स्वरूप दो श्लोक से कहते हैं कि महाभूत कहे क्षिति जल अग्नि वायु आकाश और इन का कारणरूप अहङ्कार और विज्ञानात्मिका बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व और अव्यक्त कहे मूल प्रकृति और पांच ज्ञान इन्द्री तथा एक सङ्कल्प विकल्पात्मक मन और पांच इन्द्रिय गोचर कहे शब्द आदि तन्मात्रा विशेषरूप से इन्द्रिय ग्राह्य विषय येइ क्षेत्र स्वरूप चौविश तत्त्व कहे हैं ॥ ५ ॥ और इच्छा द्वेष सुख दुःख औ सङ्घात कहे शरीर औ चेतना कहे ज्ञानात्मक अन्तःकरण की वृत्ति जो बुद्धि औ धैर्य्य ये सब दृश्य हैं इस से ये आत्मा के धर्म्म नहीं हैं अन्तःकरण ही के धर्म्म हैं तो शरीर धर्म्म ही इन को कहा चाहिये सो श्रुति मे कहा है कि कामना सङ्कल्प संशय श्रद्धा अश्रद्धा धैर्य्य अधैर्य्य लज्जा बुद्धि भय ये सब अन्तःकरण के व्यापार हैं इस वचन से यही अध्याय के तीसरे श्लोक मे जो कहा क्षेत्रधर्म्म सो देखाया है और इन्द्रिय आदि विकार सहित क्षेत्र को मैने संक्षेपरूप तुम से कहा ॥ ६ ॥ अब उक्त क्षेत्र से पृथक् जो ज्ञेय कहे जानवे योग क्षेत्रज्ञ तिस को विस्ताररूप वर्णन की इच्छा करि क्षेत्रज्ञ के ज्ञान होने के साधन पांच श्लोक

वम्। आचार्य्योपासनं सौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च। जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोषानुदर्शनम् ॥८॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्त्र दार गृहादिषु। नित्यञ्च सम चित्तत्व मिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्त देशसेवित्वमरति र्जनसंसदि ॥१०॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥ ज्ञेयं

भाषा अनुवाद

से कहते हैं कि अमानित्व अदम्भित्व अहिंसा कहे मान कपट परपीड़ा राहित्य औ क्षान्ति कहे क्षमा औ आर्जव जो सीधापन औ आचार्य्योपासन जो गुरु सेवन औ शौच कहे बाह्य अन्तर शुद्धि औ भाव शुद्ध से अन्तःशुद्धि जानो और स्थैर्य्य कहे सत् मार्ग मे प्रवृत्ति औ उसी एक मे तत्परता तथा आत्मविनिग्रह कहे शरीर संयम ॥ ७ ॥ और इन्द्रियार्थ जो रूप आदि विषय तिन से वैराग्य औ अनहङ्कारता तथा जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोष इन को बार बार देखना चाहिये ॥ ८ ॥ और पुत्त्र दारा धन आदि मे आसक्ति कहे प्रीति त्याग और पुत्रादि मे सुख दुख देखि जो मै सुखी अथवा दुखी हूं ऐसा मानि लेना अभिष्वङ्ग है तिस का त्याग और इष्ट औ अनिष्ट दोनो की प्राप्ति मे सर्व्वदा समचित्त कहे चित्त की एक रूपता अर्थात् सावधान चित्त रहना ॥ ९ ॥ और परमेश्वररूप मेरे मे अनन्य योग अर्थात् सर्व्वत्र आत्मदृष्टि से अव्यभिचारिणी एकान्त भक्ति और विविक्त कहे शुद्ध अथवा चित्त प्रसन्नकारी जो निर्जन देश वहां की वास औ संसारी व्यवहारी मनुष्यों की सभा मे अरुचि ॥ १० ॥ और आत्मा को अधिकार करि के वर्त्तमान जो ज्ञान तिस मे नित्यभाव अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य के तत्पद औ त्वं पद के अर्थ पर विश्वास और तत्त्वज्ञान का फल जो मुक्ति तिसी को श्रेष्ठ रूप से आलोचन करना इस से अमानित्व अदम्भित्व आदि जो बीस कहे गये सोई ज्ञान के साधन स्वरूप हैं यह वशिष्ठादिकों ने कहा है और इन बीसों के विपरीत जो मान दम्भ हिंसा आदि बीस हैं तेई ज्ञान के विरोधी हैं औ अज्ञान के स्वरूप जानो इस से वे सदा वर्जनीय हैं ॥ ११ ॥ और इस सब साधन से जिस का जानना होता है तिस को छ श्लोक से कहते हैं कि जो जानवे योग है

यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परंब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥ सर्वतः पाणिपादन्तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३॥ सर्व्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च

भाषा अनुवाद

सोई मैं हूं यह कहूंगा परन्तु अभी श्रोता के आदर सिद्ध होने के लिये वही ज्ञान का फल देखावते हैं कि मैं जो ज्ञान की बात कहूंगा सो जानि के लोग मुक्ति पावते हैं और सो ज्ञेय पदार्थ क्या है इस पर कहते हैं कि वह अनादि औ पर कहे निरतिशय ब्रह्मरूप यही ज्ञेय ब्रह्म न सत् न असत् अर्थात् सत् असत् शब्द से नहीं कहा जाता तात्पर्य्य यह कि सत् कहे जो विधि मुख से प्रमाण का विषय औ असत् कहे जो निषेध का विषय सोई सत् असत् कहावता है यह तो ब्रह्म अविषय हेतु अर्थात् विषय न होने से उन दोनो से भिन्न हीं है ॥१२॥ और जो ऐसा कहो कि ब्रह्म सत् असत् से भिन्न है तो यह चराचरात्मक ब्रह्माण्ड ब्रह्म है इत्यादि श्रुति से विरुद्ध होय हैं यह शङ्का करि के इस ब्रह्म को नाना प्रकार शक्ति औ ज्ञान क्रिया बलक्रिया आदि स्वभावसिद्ध नाना मतके द्वारा श्रुतियों से कहा जाय है इस तरह ब्रह्म को सर्वात्मता दिखाय अब पांच श्लोक से कहते हैं कि सर्वत्र हस्त पाद चक्षु मस्तक मुख जिस के हैं सो सर्व्वत्र ही श्रवण इन्द्रिय से युक्त होय सब लोक को व्याप्त हो के स्थित हैं अर्थात् यावत् प्राणीयों मे वर्त्तमान कर चरण आदि उपाधियों से व्यवहार करै है ॥१३॥ और चक्षु आदि इन्द्रियों के गुणस्वरूप अर्थात् रूपादि विषय मे तिस तिस आकार से वही प्रकाशमान है अथवा इन्द्रिय और गुण कहे इन्द्रियों के विषय रूपादि समस्त मे सोई प्रकाश करता है इस से सर्व्व इन्द्री गुण आभास स्वरूप हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित है सोई श्रुति कहती हैं कि सोई जो ब्रह्म सो हस्त रहित होके भी ग्रहण करते औ पाद विना भी वेगवान तथा चक्षुहीन द्रष्टा औ कर्ण विहीन श्रोता और इन सकल विषय को वे जानते हैं पर उन को कोई भी नहीं जानता है वही परमात्मा को वेद सब आदि पुरुष औ पूर्ण तथा सर्व्वव्यापी कहते हैं और वे असक्त कहे सत्त्वादि गुण रहित औ गुण के भोक्ता अर्थात् सत्त्वादि गुण समूह के प्रतिपालक हैं यह भगवान अर्ज्जुन

॥ १४ ॥ वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च
तत् ॥१५॥ अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्त्तृच तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभ
विष्णु च ॥ १६ ॥ ज्योतिषामपि तज्ज्योति स्तमसःपरमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं

भाषा अनुवाद

मे कहा ॥ १४ ॥ और जैसे सुवर्ण के कार्य्य कड़ा कङ्कन कुण्डल आदि आभूषणो मे सोना कारण रूप मे भीतर वाहर वर्त्तमान है और जैसे जल तरङ्ग मे भी जल छोड़ि और नहीं है तथा आकाश जैसे सकल वस्तु के वहिरन्तर वर्त्तमान है तैसे ही ब्रह्म के कार्य्य स्वरूप चराचर आदि भूत समूह से अन्तर वाहिर भी सोई ब्रह्म हीं वर्त्तमान है क्यों कि तावत् कार्य्य के कारण सोई हैं परन्तु ऐसे होके भी रूपादि विहीन हेतु से यह इतने और ऐसे कर स्पष्टरूप जानवे योग्य नहीं हैं और यही ब्रह्म अज्ञानियों को लक्ष योजनके समान दूर है क्यों कि विकार सहित जो प्रकृति तिस से पर है और ज्ञानियों को अपरोक्ष रूप से नित्य निकट है सूक्ष्मता के कारण अज्ञानियों को अविज्ञेय और वेदशास्त्र मार्ग से चलनेवाले ज्ञानियों को विज्ञेय है अर्थात् जानवे योग्य है इस को भी आकाश के नाईं जानो ॥ १५ ॥ और इस अध्याय के बारहें श्लोक से कहा जो ज्ञेयपदवाच्य ब्रह्मभूताख्य सो स्थावर जङ्गम समूह मे अविभक्त अर्थात् कारण रूप से अभिन्न और कार्य्य रूप से समुद्र फेन के समान भिन्न वर्त्तमान है और समस्त भूतों के भर्त्ता अर्थात् स्थिति काल मे प्रतिपालक औ प्रलय मे संहारक तथा सृष्टि काल मे स्वयं आप नाना कार्य्यरूप से प्रगट होते हैं ॥ १६॥ और सो ब्रह्म ज्योतिरूप जो सूर्य्य चन्द्र तारागण विद्युत् औ अग्नि इन सब का जोति कहे प्रकाशक है जिस से ये सब प्रकाशमान हैं और ये सब जिस ब्रह्म को नहीं प्रकाश करि शकते हैं ऐसे ब्रह्म से यह समस्त जगत प्रकाशित है यह श्रुति कहती हैं इसी से तुम जो अज्ञात तिस से पर है अर्थात् अज्ञान का लेश सो वहां नहीं है आदित्य वर्णस्तमसः परस्तात् इस श्रुति ने कहा है और सोई ब्रह्म बुद्धिवृत्ति मे ज्ञान रूप प्रगट है और सो रूपादि आकार रूप से ज्ञेय कहे ज्ञान योग्य है और ज्ञानगम्य अर्थात् पूर्व्वोक्त अमानित्व आदि लक्षण ज्ञान के साधनो से प्राप्य है क्यों कि प्राणी मात्र के हृदय मे नियन्ता अन्त-

हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥ इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः। मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥ प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥ कार्य्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः

भाषा अनुवाद

र्यामी चेतनरूप से स्थित है ॥ १७ ॥ अब अधिकारी औ फल सहित कहा जो क्षेत्रादि उस का तात्पर्य्य कहते हैं कि इस अध्याय के पंचये श्लोक से ले कर और सतहें तक ज्ञेय स्वरूप जो वशिष्ठादि ऋषियों ने विस्तार से कहा है सो सब मैने संक्षेप से कहा सो मेरे भक्त यह जानि करि के ब्रह्मता की प्राप्ति होने के योग्य होते हैं अर्थात् मेरे भाव को पावते हैं ॥१८॥ क्षेत्र स्वरूप औ जो जड़ अदृश्य आदि है औ स्वभाव औ जैसा इच्छादि धर्म्मविशिष्ट सो सब पूर्व्व हीं विस्तार रूप से कह चुके अब पूर्व्व अङ्गीकृत यही क्षेत्र जैसे इन्द्रिय आदि विकार से युक्त और जैसे प्रकृति पुरुष संयोग से प्रगट होय है और जिस प्रकार स्थावर जङ्गम आदि भेद से भिन्न भिन्न स्वरूप होय है और सोई क्षेत्रज्ञ जो स्वरूप औ जैसे भावविशिष्ट हैं सो सब प्रकृति पुरुष को संसार हेतुत्व कहने के द्वारा पांच श्लोक से विस्तार रूप कहते हैं कि सोई प्रकृति औ पुरुष दोनो अनादि हैं जो इन का और कारण ढूंढ़ोगे तो अनवस्था दोष पड़ेगा अर्थात् उस का कारण तिस का कारण ऐसे ठिकाना न लगैगा इस से सोई प्रकृति पुरुष को अनादि जानो तो ईश्वर की शक्ति प्रकृति भी अनादि है और ईश्वर का अंशभूत पुरुष भी अनादि है और देह इन्द्रिय आदि विकार तथा गुणरूप परिणाम को प्राप्त जो सुख दुख मोह आदि सो सब प्रकृति मे होते हैं यह जानो परमेश्वर औ तदीय कहे उनको शक्तियों को अनादित्व भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य्य ने विस्तार से कहा है इस से इहां ग्रन्थ बढ़ने के डर से मैने नहीं कहा देह इन्द्री सुख दुःख सब प्रकृति ही के कार्य्य हैं ॥ १९ ॥ भगवान श्रीकृष्ण सकल विकार के प्रकृति से उत्पन्न हैं इह देखाय इस अब पुरुष को संसार होने का हेतु इस श्लोक से देखावते हैं कि कार्य्य जो शरीर और कारण जो सुख दुख के साधन स्वरूप कहे करनेवाली इन्द्री सब और इन्द्रियों को कर्तृत्व कहे तीन तीन रूप हो जाना इस सब की कारणभूत प्रकृति है यह कपिल आदि

सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥ पुरुषःप्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणंगुणसङ्गोस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥ उपद्रष्टानुमन्ताच भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तोदेहेस्मिन्पुरुषःपरः ॥२२॥ यएवंवेत्तिपुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैःसह ।

भाषा अनुवाद

ऋषियोंने कहा है और पुरुष जो जीव सो शरीर इन्द्रिय आदि कृत सुख दुख सब का कारण स्वरूप कहा है तात्पर्य्य यह कि यद्यपि अचेतन प्रकृति आप से कुछ नहीं कर शकती और विकारी पुरुष को भी भोक्तृत्व कहे भोग करना यह असम्भव है तौ भी कर्तृत्व शब्दका अर्थ यह है कि क्रिया करना अचेतन प्रकृति को भी चैतन्यरूप जीव के अदृष्टवशते सम्भवै है जैसे अचेतन होके भी अग्निज्वाला का ऊर्द्ध्वगमन औ वायु का तिर्जक कहे तिर्च्छी गमन और बच्चों को जैसे दूध रक्षण करै है तैसे हो पुरुष की सान्निध्य कहे अवलम्बन से प्रकृति को कर्तृत्व है और भोक्तृत्व जो सुख दुख का ज्ञान सो चेतन का धर्म्म है इस से प्रकृति सन्निधान कहे माया की निकटता को प्राप्त होय पुरुष को भी भोक्तृत्व कहा है ॥२०॥ जो कहो कि अविकारी औ जन्म रहित जो आत्मा तिस को भोक्तृत्व कहे भोगना कैसे सम्भव होय है कि जिस हेतु सोई पुरुष प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृति का कार्य्य जो शरीर तिस मे तदात्मरूप होय वास करै है इस हेतु उस शरीर से प्रगट जो सुख दुख आदि तिन को भूल से भोग करै है जैसे मनुष्य कोई वस्तु या द्रव्य पाय अपनी कर मानि लेय फेरि उस के जाने से दुखी होय है कहो यहां दुख का कारण अभिमान छोड़ और क्या है और सत जो देव मनुष्य जोनि औ असत् जो पशु पक्षी आदि जोनि तिन मे जो इस पुरुष का जीव रूप जन्म है सो गुण कहे शुभ अशुभ कर्म्म कारी इन्द्रियगण तिन के सङ्ग से होय हैं सङ्गही ऊंचो नीचो देह धारण मे कारण रूप है यह जानो ॥ २१ ॥ उक्त रीति से प्रकृति जो माया तिस के अविवेक वशते जीव को अहं कर्त्ता अहं भोक्ता इत्यादि कल्पित मात्र संसार है पर विचार स्वरूप से तो इस जीव को संसार नहीं है इसी आशा पर अब पुरुष का स्वरूप कहते हैं कि इस प्रकृति का कार्य्य रूप जो शरीर तिस मे वर्त्तमान हो के भी जीव प्रकृति से भिन्न कहे प्रकृतिके गुणों से युक्त नहीं है उनसे अलग है क्यों कि ईश्वर

सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न सभूयोऽभिजायते ॥२३॥ ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मान-मात्मना । अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥ अन्येत्वेवमजानन्तः श्रुत्वा

भाषा अनुवाद

अंश जीव उपद्रष्टा अर्थात् भिन्नरूप से समीप मे रह कर देखनेवाला साक्षी मात्र हैं और अनुमन्ता अर्थात् समीप सम्बन्ध से अनुग्राहक कहे अनुमोदन कर्त्ता मानने-वाला है सोई श्रुति कहती हैं कि एक स्वयं प्रकाशरूप जो परमात्मा सो भूत मात्र मे निगूढ़ भाव से स्थित है और सर्वव्यापी तावत् प्राणी का अन्तर्यामी है और सकल कर्म का नियन्ता औ भूतमात्र का अधिष्ठानरूप और द्रष्टा औ समस्त भूतों का चैतन्यकारी औ अद्वितीय तथा गुणों से अतीत कहे अलग है और यह पुरुष ईश्वर सम्बन्ध रूप से भर्त्ता कहे पोषणकारी प्रतिपालक है और महेश्वर कहे ब्रह्मा-दिकों का भी अधिपति अर्थात् स्वामी है सोई श्रुति है कि यह पुरुष सब का ईश्वर और सर्व्व भूत का अधिपति तथा भूतमात्र का प्रतिपालक है ॥ २२ ॥ ऐसी जो प्रकृति औ पुरुष तिन के विवेक के ज्ञानवान मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं कि जो लोग ऐसे उपद्रष्टा रूप पुरुष को जानते है तथा प्रकृति का औ प्रकृति के गुणरूप परिणाम को प्राप्त कहे रूपान्तर को प्राप्त सुख दुख सहित को जानि सकै हैं वेई मनुष्य संसार मे रहते सम्पूर्ण विधि को उल्लङ्घन कर के भी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते मुक्त ही होते हैं यह जानो ॥२३॥ ऐसी जो प्रकृति तिस से भिन्न जो आत्मा तिसके ज्ञान होनेके विषयमे अनेक अनेक कल्पनारूप साधन दो श्लोक से कहते हैं कि कोई तो ध्यान कहे आत्माकाराकारित ज्ञानरूप धारावाहिक अन्तःकरण की वृत्तिसे इसी शरीरमे मनके द्वारा आत्माका दर्शन करते हैं और कोई सांख्य अर्थात् प्रकृति पुरुषका भेद आलोकनके द्वारा आत्मा को देखते हैं कोई यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधिरूप अष्टाङ्ग योग के क्रम से जानते हैं और कितने एक निष्काम कर्मरूप भक्तियोग अनुष्ठान कर के शुद्ध सतोगुण होय तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते रहते हैं यद्यपि ध्यानादि यथा योग्य क्रम से एक ही है तौ भी तीन तीन निष्ठा के भेद से भिन्न नाना मत कहा है ॥ २४ ॥ और अब अति मन्द अधिकारियों के निस्तार की उपाय कहते हैं कि सांख्ययोग

न्येभ्य उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥ यावत् संजायते
किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥ समं सर्वेषु
भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥ समं
पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

भाषा अनुवाद

आदि मार्ग से ऐसे उपद्रष्टारूप आत्मा को साक्षात्कार करने में अर्थात् देखने में जो अज्ञ हैं परन्तु और किसी आचार्य्य का उपदेश श्रवण करि के ध्यानमात्र करते हैं तेउ श्रद्धापूर्वक उपदेश श्रवण में तत्पर होय क्रम से मृत्युयुक्त संसार से अवश्य मुक्त हो जाते हैं सोई अर्जुन तुम यह जानो ॥२५॥ अब तृतीय चतुर्थ पञ्चम अध्याय में कर्मयोग विस्तार से कहा और छठयें अठयें अध्याय में ध्यानयोग का विस्तार कहा और सांख्य के द्वारा भिन्न किया हुआ जो आत्मा सोई ध्यान आदि का विषय है इस हेतु सांख्य ही को अध्याय समाप्ति पर्य्यन्त विस्तार करि के भगवान कहते हैं कि हे भरतर्षभ अर्जुन जो कुछ स्थावर जङ्गम आदि वस्तु उत्पन्न है सो सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनों के योग से है अर्थात् अविवेककृत जो आत्मा का अध्यास अर्थात् संयोग है तिस हेतु में उत्पन्नमात्र है यह निश्चय कर जानो ॥२६॥ अविवेक से संसार उत्पत्ति कहि कर अब संसार की निवृत्ति के अर्थ प्रकृति से भिन्न स्वरूप जो आत्मा उस का शोभन दर्शन कहते हैं कि स्थावर जङ्गमात्मक सर्वभूत में निर्विशेष कहे समान सत् रूप सम भाव से स्थायी परमात्मा को जो मनुष्य देखते हैं और भूतों के विनाश में आत्मा को अविनाशीरूप जो देखते हैं तेई शोभनरूप देखते हैं और कोई भी नहीं ॥२७॥ और उस शोभन दर्शन होने का कारण क्या है इस पर कहते हैं कि सोई शोभन देखनेवाला मनुष्य यावत् भूत मात्र में सम्यक् प्रकार से अन्तर स्वरूप अव-स्थित परमात्मा का दर्शन करि के आप अपने को नष्ट नहीं कर्त्ता अर्थात् सच्चिदा-नन्द आत्मा स्वरूप को अविद्या अज्ञान से आवरण करि के नाश नहीं करता है तिस से श्रेष्ठगति मुक्तिरूप को प्राप्त होता है और जो इस पूर्वोक्तरूप से नहीं देखता है सो शरीर ही को आत्मा करि के देखनेवाला शरीर के सहित अपने को अवश्यही नष्ट कर्त्ता है सोई श्रुति कहती है कि जो उक्त प्रकार से आत्महा होता है

प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्व्वशः । यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥
२९॥ यदा भूत पृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । अतएव च विस्तारं ब्रह्मसम्पद्यते तदा ॥
३०॥ अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न

भाषा अनुवाद

सोई मरण के अनन्तर प्रकाश शून्य अन्धकार से आवृत जो स्थान तांहा को जाता हैं । २८ ॥ जो कहो कि शुभ अशुभ कर्म्म के कर्तृत्व हेतु से वैषम्य देख पड़ती है फेरि आत्मा का समत्व कैसे है इस पर कहते हैं कि जो देह इन्द्रिय आकार मे रूपान्तर को प्राप्त प्रकृति के द्वारा नाना प्रकार क्रियमाण कर्म्म होते हैं ऐसे जो मनुष्य देखै है और अपने को अकर्त्ता देखै है अर्थात् स्थूल शरीर मे अहं बुद्धि से आत्मा कर्त्ता होता है और स्वरूप से उस को कर्तृत्व नहीं है ऐसे जो मनुष्य देखै है सो सम्यक् देखै है सोई कहा है कि यः पश्यति स पश्यति इति ॥२९॥ अब प्रकृति के सकल कार्य्यभूत औ तिन की कारण स्वरूप प्रकृति मात्र इस भेद के अभाव हेतु से मनुष्य भूतगत भेदजनित आत्मा का भेद नहीं देखैं हैं ऐसे मनुष्यों को ब्रह्मभाव प्राप्ति कहते हैं कि जब स्थावर जङ्गम भूत का पृथक् भाव कहे भेद को ऐसे देखते हैं कि एक यही परमेश्वर को शक्तिरूप प्रकृति से सृष्टि स्थिति प्रलय काल मे भूतों की उत्पत्ति पालन नाश निरन्तर देखते हैं और तत्तत्काल मे प्रकृतिस्वरूप मात्र देखते भूतों के अभेददर्शी लोग परिपूर्ण स्वरूप ब्रह्म हीं है ॥३०॥ और जो कहो कि पूर्व्वोक्तरूप आत्मा के भेद का अभाव होने से भी संसारावस्था मे देह सम्बन्ध से जो कर्म्म और उन्हीं कर्मों का फलरूप जो सुख दुख आदि तिन के द्वारा वैषम्य भाव तो नहीं दूर हो सकै है इस से वैसे आत्मा का सम्यक् दर्शन कैसे सम्भव होय इस शङ्का पर कहते हैं कि जिस की उत्पत्ति होती उस का अवश्य आदि है और भी गुणयुक्त वस्तु है उसी को गुण के नाश होने से रूपान्तर प्राप्ति रूप विकार भी होता हैं किन्तु जिस हेतु यह जीव परमात्मा औ अनादि तथा निर्गुण हेतु से अव्यय अर्थात् अविकारी है इस से हे कौन्तेय शरीर मे रहि के भी कोई कर्म नहीं कर्त्ता और कर्मफल मे भी लिप्त नहीं होता अर्थात् इस को कोई कर्म्म नहीं लगते हैं ॥ ३१ ॥ अब आत्मा के कर्म न करने और कर्म्मफल मे लिप्त न

लिप्यते ॥३१॥ यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥ यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥ क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा । भूत प्रकृति मोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥ इति प्रकृति पुरुष विवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

भाषा अनुवाद

होने मे दृष्टान्त देते हुयें हेतु कहते हैं कि जैसे सूक्ष्मता के हेतु से सर्व्व गत आकाश पङ्क आदि मे रहते भी असङ्ग हेतु से पङ्क आदि उस को नहीं लगते अर्थात् पङ्क से वह लिप्त नहीं होता है तैसे ही यावत् उत्तम मध्यम औ अधम शरीरों मे रहि के भी आत्मा लिप्त नहीं होता है अर्थात् शरीरसम्बन्धी पुण्य पाप आदि से युक्त नहीं होता है ॥३२॥ असङ्ग हेतु से परमात्मा की निर्लेपता आकाश के दृष्टान्त से दिखाया अब प्रकाशक होके भी जो प्रकाश्य वस्तुवों के धर्म से आत्मा युक्त नहीं है यह सूर्य्य के दृष्टान्त से कहते हैं कि हे भारत अर्ज्जुन एक यही सूर्य्य जैसे समस्त लोक को प्रकाश करते हैं परन्तु प्रकाश्य वस्तु के गुण दोष से लिप्त नहीं होते ऐसे ही क्षेत्री जो आत्मा सो क्षेत्र कहे शरीर आदि सब को प्रकाश करते भी देहादि के गुण दोष से लिप्त नहीं होता है यह तुम हमारी बात सत्य कर के मानो हे भारत अर्ज्जुन ॥ ३३ ॥ अब अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार से उक्त जो क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ तिन दोनो का भेद जो मनुष्य विवेक ज्ञानरूप चक्षु के द्वारा देखते हैं और यही पूर्व्व कही हुई जो प्रकृति तिस से मोक्ष अर्थात् मुक्ति का उपायरूप ध्यान धारणा आदि जो जानते हैं तेई पुरुष परमपद को जाते हैं ॥ ३४ ॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी टीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दश अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। परं भूयः प्रवच्यामि ज्ञानिनां ज्ञानमुत्तमम्। यद्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १ ॥ इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि

भाषा अनुवाद

तेरहें अध्याय के छवीसवें श्लोक मे जो कहा कि प्रकृति औ पुरुष के संयोग से संसार की उत्पत्ति होती है ऐसी नितीश्वरवादी सांख्य मत के अवलम्बियों की निश्चय के अनुसार संसार को स्वाधीनता नहीं है किन्तु ईश्वर की इच्छा के क्रम ही से सो होय है यह कहते हुये भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति पुरुष की स्वाधीनता के निवारणपूर्वक सत्त्व आदि गुणों के सङ्ग से संसार की विचित्रता होती है और तेरहें अध्याय के एकइशवें श्लोक मे कहा जो सत्त्वादि गुण के संसार की चित्रता सो अब चौदहें अध्याय मे विस्तार से भगवान कहते हैं और जो अब कहेंगे उस की प्रशंसा दो श्लोक से कहते हैं कि परम जो परमार्थ निष्ठ जिस के द्वारा जाना जाय ऐसा जो ज्ञान उपदेश सो फेरि तुम से कहूंगा सो ज्ञान किस प्रकार का है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि यह ज्ञान मोक्ष का हेतु है इस से तप औ कर्म आदि विषयक सकल ज्ञानों के बीच यह उत्तम है जिस को जानि के मुनिलोग स्थूल सूक्ष्म शरीर बन्धन से छूटि श्रेष्ठ सिद्धिरूप मुक्ति को प्राप्त भये है इस से ज्ञानियों का यह उत्तम ज्ञान है यह तुम जानो ॥१॥ और यही ज्ञान अर्थात् ज्ञान का साधन जो अब तुम से कहूंगा तिस का अनुष्ठान करि के कहे आश्रय ले के सारूप्य मुक्ति को प्राप्त सकल मुनिजन सर्ग कहे ब्रह्मादिक की उत्पत्ति होने से भी उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय काल मे भी प्रलय के दुःख को नही भोगते हैं अर्थात् पुन-

नोपजायन्ते प्रलयेन व्यथन्ति च ॥२॥ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥ सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयःसम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं वीजप्रदः पिता ॥४॥ सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।

भाषा अनुवाद

रागमन से रहित हो जाते हैं ॥२॥ उसी ज्ञानसाधन की प्रशंसा करि कै श्रोता अर्जुन को श्रवण को अभिलाष वढ़ाय परमेश्वर के आधीन जो प्रकृति औ पुरुष ये दोनो सकल भूतमात्र की उत्पत्ति के कारण हैं परन्तु स्वाधीन प्रकृति पुरुष को कारणत्व नहीं है यही तात्पर्य्य अव कहते हैं कि प्रकृति देश औ काल से अपरिच्छिन्न अर्थात् सवसे भिन्न महत कहे अनन्त समस्त कार्य्य की हेतुरूप ब्रह्म है सो यही महत ब्रह्म नाम जो प्रकृति सो परमेश्वर स्वरूप हमारी जोनि है अर्थात् गर्भ धारण का स्थान है सो इसी प्रकृति मे मै गर्भ कहे जगत के विस्तार का हेतु चिदाभास कहे चेतन अंश वीजरूप को स्थापन करता हूं और प्रलय काल मे हमारे ही मे लीन होय है और अविद्या से उत्पन्न जो काम्यकर्म तिन के संस्कार से युक्त क्षेत्रज्ञ आत्मा को सृष्टिकाल मे भोग्य जो क्षेत्र कहे नाना प्रकार देह तिन मे सम्यक् प्रकार से योग करता हूं और वही गर्भ आधान से ब्रह्मा आदि समस्त भूत की उत्पत्ति होती है हे भरत अर्जुन तुम श्रवण करो ॥३॥ केवल सृष्टिकाल ही मे प्रकृति पुरुष के द्वारा भूतों का जन्म होता है ऐसा न जानो परन्तु सदा सर्व्वदा प्रकृति पुरुष से प्रगट होते रहतें यही कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्ज्जुन जितने मनुष्य औ योनि स्थावर जङ्गम रूप स्वरूप उत्पन्न होते हैं उन को निरन्तर वढ़ावनेवाली प्रकृति ही योनि है अर्थात् माता है और वीज प्रदाता पितारूप गर्भाधान कर्त्ता पुरुष स्वरूप मै हीं हौं ॥ ४ ॥ परमेश्वराधीन प्रकृति पुरुष के द्वारा प्राणियों की उत्पत्ति निरूपण करि कै अव प्रकृति के संयोग से पुरुष की संसार अवस्था इस श्लोक से ले कर चारि श्लोक पर्य्यन्त क्रम से विस्तार करि कहते हैं कि हे महावाहो अर्ज्जुन सत्व रज औ तम ये तीन गुणो की समान अवस्था रखनेवाली जो प्रकृति तिस से जिस की उत्पत्ति है उस मे गुणो के धर्म्म आप होंगे देखो प्रकृति से गुणो के अनुसार भिन्न भिन्न प्रगट होय प्रकृति के

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥ तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥ रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥ सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।

भाषा अनुवाद

कार्य्यरूप शरीर मे अहं बुद्धि युक्त स्थित देही स्वरूप चिदंश आत्मा जो सचमुच अव्यय निर्व्विकार रूप है उस को भी गुण अच्छीतरह बद्ध करते हैं अर्थात् अपने कार्य्य सुख दुख मोह आदि से युक्त कर देते हैं ॥५॥ तिन गुणों के बीच मे सतो गुण का स्वरूप और उस के बन्धकत्व को प्रकार कहते हैं कि सतो गुण निर्मलता के हेतु से फटिक के समान प्रकाशक कहे दीप्तियुक्त और अनामय अर्थात् निरूपद्रव शान्त स्वरूप है इसी से हे अनघ निष्पाप अर्ज्जुन शान्त स्वरूप सतोगुण अपने कार्य्यरूप सुख मे जो आसक्ति के द्वारा बन्ध करता है और प्रकाशक है इस हेतु से अपने कार्य्यरूप ज्ञान मे जो आसक्ति उस मे भी बद्ध करता है अर्थात् हम सुखी हम ज्ञानी इत्यादि मन के सकल कर्म्म को तिस अभिमानी क्षेत्रज्ञ रूप आत्मा मे सम्पूर्णरूप से योग कर देता है अनघ पद से जानाया कि गीता का अधिकारी पुण्यात्मा है ॥ ६ ॥ अब रजोगुण का स्वरूप और बन्धकत्व कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्ज्जुन रजोगुण को रागात्मक कहे अनुराग स्वरूप जानो इस मे तृष्णा जो अप्राप्त वस्तु मे अभिलाष औ सङ्ग कहे प्राप्त विषय मे जो सम्पूर्ण आसक्ति इन दोनो का रजोगुण से उद्भव होता है सोई रजोगुण देही जीव को दृष्ट औ अदृष्ट अर्थ कर्मो की आसक्ति से निश्चय बन्ध करते है क्यों कि तृष्णा औ सङ्ग के द्वारा समस्त कर्म मे आसक्ति होती है ॥ ७ ॥ अब तमोगुण का स्वरूप और बन्धकत्व कहते हैं कि तमोगुण ज्ञान से प्रगट है अर्थात् आवरण शक्ति प्रधान प्रकृति के अंश से प्रगट जानो इस से हे भारत अर्ज्जुन यावत् जीव का मोहकारी अर्थात् भ्रम उत्पन्न करै है तो क्यों न यह तमोगुण प्रमाद आलस्य औ निद्रा आदि दोष जीव को करैगा ॥८॥ सत्व आदि तीनो गुणों के स्वकार्य्य करने मे सामर्थ्य को आधिक्य कहते हैं कि हे भारत अर्ज्जुन तमोगुण सुख मे युक्त करता है अर्थात् यद्यपि विषय सुख देखो

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥ रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥१०॥ सर्वद्वारेषु देहेस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्या द्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥ ११ ॥ लोभ प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः

भाषा अनुवाद

अथवा योग से प्रगट सुख दुख शोक आदि का कारण स्वरूप है तौ भी जीव को सुख ही की ओर उन्मुख करता है और रजोगुण सुख आदि का कारण होके भी सर्व कर्मों मे युक्त करता है और तमोगुण महात्मों के सङ्ग से उत्पन्न ज्ञान को आवरण करि के असावधान कर देय है अर्थात् महात्मों के उत्तम उपदेश को नहीं समझने देय है और आलस्य आदि से अच्छीतरह युक्त कर देता है ॥९॥ अब सत्वादि तीनो गुणों के प्रवृत्त होने की रीति कहते हैं कि रजोगुण तमोगुण को तिरस्कार कहे पराभव करि के सतोगुण प्रगट होय है अर्थात् जीव के अदृष्टवशते सत्व जन्मै है और अपने कार्य्य सुख आदि मे जीव को युक्त करै है ऐसे ही सत्त्व औ तमोगुण का पराभव करि रजोगुण जन्मै है और अपने कार्य्य तृष्णा आदि मे युक्त करता है तैसे ही सत्व रज को पराभव करि के तमोगुण प्रगट होय है और अपने कार्य्य प्रमाद आलस्य मे युक्त करि देता है ॥१०॥ अब विशेष से बढे हुयें सत्त्व आदि तीनों गुण के लक्षण कहे चिह्न तीन श्लोक से कहते हैं कि इस भोगायतन कहे भोग भाण्ड शरीर मे श्रोत्र आदि समस्त द्वारा मे जिस समय शब्द आदि ज्ञान स्वरूप उत्पन्न होता है उस समय प्रकाशरूप चिह्न के द्वारा सतोगुण को विशेष बढ़ा हुआ जानो और सुख आदि चिह्न से भी सत्व की वृद्धि जानो तात्पर्य्य यह कि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता सो सतोगुण हीं से होय है ॥११॥ और हे भरतर्षभ अर्जुन लोभ कहे बहुत धन रहते और पैदा होते भी धन को वार वार वृद्धि करने की लापलाप अभिलाष और प्रवृत्ति कहे सदा हीं व्यापार मे मन दिये रहना और आरम्भ अर्थात् कर्मों का आरम्भ घर बगीचा आभूषणादि बनाने मे उद्यम और अशम कहे मै यह कर्म करि के फेरि वह कर्म करूंगा यह जो नाना सङ्कल्प से मन का असन्तोष और स्पृहा कहे उत्तम अधम वस्तु देखने हीं से जिस तरह होय लेने की इच्छा ये सब चिह्न रजोगुण के बढ़ने से होते हैं अर्थात् इन

स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥ अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानिजायन्तेविवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥ यदासत्वेप्रवृद्धेतु प्रलयंयाति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोका न मलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥ रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते ॥१५॥ कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्। रजसस्तफलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥ तत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभएव च। प्रमादमोहौतमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥ ऊर्द्धं गच्छन्ति स

भाषा अनुवाद

लक्षणों से रजोगुण की वृद्धि जानो हे अर्जुन यह श्रीकृष्ण ने कहा ॥१२॥ और अप्रकाश कहे विचारका नाश और अप्रवृत्ति कहे निरुद्यम और प्रमाद कहे हर काम हर बात में खबर और मोह कहे मिथ्या अभिनिवेश अर्थात् दुचितई या झूठे कारखाने मे मन देना ये सब चिह्न तमोगुण से होते हैं औ इनि लक्षणों से तुम तमोगुण की वृद्धि जानो ॥१३॥ अब मरणकाल मे विशेष से वर्द्धमान सत्त्व आदि गुणो का फल विशेषरूप दो श्लोकसे कहते हैं कि जो सतोगुण की वृद्धि के समय मे देहधारी जीव शरीरको छोडैं तो हिरण्यगर्भ आदिकी उपासना करनेवाले मनुष्यों के प्रकाशमय सुख उपभोग करने के जो स्थान हैं उन स्थान विशेषों को प्राप्त होय हैं ॥१४॥ और रजोगुण की वृद्धि के समय मे मृत्यु प्राप्त होने से कर्म मे आसक्त मनुष्य लोक मे जन्म होता है और तमोगुण के वृद्धि काल मे देह छूटने से पशु पक्षी आदि मूढ़ जोनि मे जन्म पावै है ॥१५॥ अब सत्व आदि गुणत्रय के अनुरूप कर्मों के द्वारा विचित्र फल प्राप्ति मे गुणों को हेतु कहते हैं कि कपिल आदि ऋषि सुकृत कहे सात्त्विक कर्म का फल सत्त्वप्रधान प्रकाशमय सुख फल कहते हैं और राजस कर्म का फल दुख कहते हैं और तामस कर्म का फल अज्ञान अर्थात् मूढ़ता को कहते हैं किन्तु सात्त्विकादि कर्म का स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण अठारहें अध्याय के तेईस श्लोक आदिसे ले कर कहैहैं ॥१६॥ अब पूर्वोक्त सत्वादि गुणके फल स्वरूप सुख आदि का हेतु कहते हैं कि सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है इस से सात्विक कर्मका प्रकाश जो सुख सोई होता है औ रजोगुण से लोभ जन्मै है इस से लोभ पूर्वक पूर्व्व कर्मा का भी फल होता है औ तमोगुण से प्रमाद मोह

त्वास्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ॥१८॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्चपरं वेत्तिमद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
१९॥ गुणानैता नतीत्यत्रीन्देही देहसमुद्भवान्। जन्म मृत्यु जरा दुःखै र्विमुक्तोऽमृत-
मश्नुते ॥२०॥ अर्ज्जुन उवाच। कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो। किमा-

भाषा अनुवाद

तथा अज्ञान प्रगटै है इससे अज्ञान जड़ता यही फल होना उचित है ॥१७॥ अब सतोगुण आदि आचरणशीलों के फल भेद कहते हैं कि सत्वस्थ कहे सतोगुण प्रधान पुरुषों को ऊर्द्ध्वलोक प्राप्त होते अर्थात् सत्व के प्रताप से पुण्य की आधिक्य होती है उत्तरोत्तर कहे आगे आगे सौगुनी आनन्दस्वरूप होते हुये मनुष्यलोक गन्धर्वलोक पितृलोक देवलोक मर्त्यलोक पर्य्यन्त प्राप्त होते हैं और रजोगुण प्रधान मनुष्य लोभग्रस्त मध्यलोकमे रहते हैं अर्थात् मनुष्यलोकमे जन्मे हैं और जघन्य कहे निकृष्ट जो तमोगुणी मनुष्यलोग प्रमाद मोह से भरेपूरे हैं उनकी अधोगतीही होतीहै अर्थात् तमोगुण उन को कृपा करके अन्धतम नरक मे पहुंचाय देता है ॥१८॥ पूर्वोक्त प्रकार प्रकृति के गुण सङ्ग से संसार की बाहुल्य कहे बहुताई कहिके अब प्रकृति से पुरुष का विवेक करने हीं से मोक्ष होतो है यह देखावते हैं कि जिस काल मे द्रष्टा जीव विवेकी होके बुद्धि आदि रूप को प्राप्त होय सत्व आदि गुणों को छोड़ दूसरे किसी को कर्त्ता नहीं देखता वलिक गुण हीं सब कर्म करते हैं यही देखता है और सत्व आदि गुणों से पर कहे भिन्न स्वरूप सोई गुणादिकों का साक्षी आप अपने को जब जानै तब सो जीव मद्भाव को प्राप्ति होय अर्थात् ब्रह्मपद पावै ॥१९॥ तिस के अनन्तर सत्व आदि गुण कृत सम्पूर्ण अनर्थ निवृत्त होने ही से जो कृतार्थ होता है कहते हैं कि सम्यक् प्रकार से जिस का देहादि रूप मे उद्भव अर्थात् देह रूप परिणाम को प्राप्त हैं सोई देह समुद्भव कहाये है इस से देही जो जीवात्मा सो देह रूप परिणाम को प्राप्त येई सत्वादि तीक्ष्ण गुणों के अतिक्रमण करने से पर है अर्थात् गुणकृत जन्म मरण जरा व्याधि दुख आदि से अच्छी प्रकार मुक्त होय अमृत जो परम आनन्द सो लाभ करता है ॥ २० ॥ जीव यह गुणत्रय से अतिक्रान्त कहे अलग होने से मुक्ति पावता है यह भगवान

चारः कथं चैतां स्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते ॥ २१ ॥ श्रीभगवानुवाच। प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव। नद्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांचति ॥२२॥ उदासीनवदा-

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण के मुख से श्रवण करि के गुणातीत मनुष्य के लक्षण और उन मनुष्यों का आचरण औ गुणो के अतिक्रम की उपाय सम्यक् प्रकार से जाननें की इच्छा करि के अर्ज्जुन भगवान से कहते हैं कि हे प्रभो देही जो जीव सो किस प्रकार आप से उत्पन्न लक्षण के द्वारा गुणातीत होय यह लक्षण पूछा और किमाचार कहे उस के आचरण कैसे होते अर्थात् किस प्रकार के व्यवहार मे वर्त्तमान रहता है और किस उपाय से इन गुणों को अतिक्रमण करि के स्थिर होय है सो सब कृपा करि कहिके जो मेरो सन्देह दूर जाय ॥२१॥ स्थित प्रज्ञस्य का भाषा यह दूसरे अध्याय के चौविश पचीस स्लोक आदि से यही बात अर्ज्जुन ने पूछा भी था और उस का उत्तर भी भगवान दे चुके हैं तो भी फेरि विशेष रूप से जानने की इच्छा से अर्ज्जुन पूछते है यह विचार करि के भगवान दूसरे प्रकार से उन का लक्षण आदि इस स्लोक से ले कर छः स्लोक से कहते हैं और उन के बीच ईस एक स्लोक के द्वारा उन के लक्षण जनावते हैं कि सत्व आदि गुणों को उपलक्ष्य करि कै कहा जो प्रकाश अर्थात् सर्व द्वारेषु देहेस्मिन् यह इस अध्याय के एकादश स्लोक से कहा जो सतोगुण का कार्य्य और प्रवृत्ति जो रजोगुण का कार्य्य तथा मोहादि जो तमोगुण का कार्य्य यें समस्त कार्य्य यथा क्रम से आप से प्रवृत्त होने पर दुख विचार करि के जो पुरुष द्वेष हेतु से औ निवृत्ति होने से सुख जानि इच्छा न करे सोई गुणातीत मनुष्य है यह जानो ॥ २२ ॥ उक्त रूप अनायास बोध से गम्य जो गुणातीत के लक्षण सो कहि कर गुणातीत का आचरण कैसा है इस दूसरे प्रश्न का उत्तर तीन स्लोक से कहते हैं कि उदासीन के समान साक्षी रूप स्थित होके सत्व आदि गुण के कार्य्य सुख दुख आदि से जो मनुष्य अविचलित है अर्थात् अपने द्रष्टा स्वरूप से चुत न होय के वलु सत्वादि गुण अपने अपने काम मे वर्त्तमान है इन से हम से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ऐसे विवेक ज्ञान से जो पुरुष चुप-चाप मौन होय स्थित रहे और इस बात से विचलित न होय सो गुणातीत

सीनोगुणै र्यो न विचाल्यते। गुणावर्त्तन्त इत्येवं योऽवितिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥ समदुःख
सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियोधीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते
॥२५॥ माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। सगुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय
कल्पते ॥ २६॥ ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुख-
स्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥ इति गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

भाषा अनुवाद

है ॥२३॥ और जो मनुष्य सुख दुख मे समान और माटी पात्थर सोना आदि भी जिस के निकट समान हैं और सुख दुःख के हेतु स्वरूप प्रिय अप्रिय विषय मे जिस की बुद्धि तुल्य है और धीर धीमान जो हैं तथा अपनी स्तुति औ निन्दा मे भी तुल्य बुद्धि हैं ॥ २४ ॥ और जो मनुष्य मान अपमान मे एक भाव और मित्र शत्रु पक्ष मे समबुद्धि तथा जो दृष्ट अदृष्ट सम्पूर्ण अर्थ के उद्यम को त्याग करने मे समर्थ है ऐसे आचरण से युक्त पुरुष को गुणातीत कहते हैं यह जानो ॥ २५ ॥ किस प्रकार सत्वादि गुणों को अतिक्रम करि के वर्त्तमान रहैं इस प्रश्न का उत्तर करते हैं कि परमेश्वर स्वरूप हमारी ही सेवा अव्यभिचारिणी ऐकान्तिक भक्ति के द्वारा जो मनुष्य करता है सोई मनुष्य गुणत्रय को अच्छीतरह से अतिक्रम करि के मुक्ति प्राप्ति के योग्य होता है ॥ २६ ॥ अब पूर्वोक्त भगवद्भक्त के मोक्ष प्राप्ति के विषय मे हेतु कहते हैं कि जिस हेतु ब्रह्म की प्रतिष्ठा जो प्रतिभा सो मै हूं अर्थात् घनीभूत प्रकाश मात्र जैसे सूर्य्यमण्डल तद्रूप हम घनीभूत ब्रह्म हैं और नित्यमुक्त अव्यय के और अमृत जो मुक्ति तिस के भी प्रतिमा हम हैं और शुद्ध सत्व मुक्ति के साधन स्वरूप सनातन धर्म्म के भी प्रतिमा मूर्त्ति हम हैं और पर-मानन्द सुख के भी मूर्त्ति हमें जानो इस से मेरे सेवक जन को मद्भाव रूप ब्रह्मत्व प्राप्ति की अवश्य सम्भावना है जिस के आश्रय हेतु से असत् जो सत् के समान प्रतीयमान यह संसार तिस से हमारे भक्त अनायास ही तर जाते हैं यही चौदहें अध्याय मे भगवान ने कहा है ॥ २७ ॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विर-चित मनभावनी टीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

पञ्चदश अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। ऊर्द्ध्वं मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि

भाषा अनुवाद

वैराग्य के विना ज्ञान औ भक्ति दुर्लभ है इस लिये पन्द्रहें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण वैराग्य सहित ज्ञान का उपदेश अर्ज्जुन को दिया है और पूर्व्व चौदहें अध्याय के अन्त में जो कहा कि मांच योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते इत्यादि छब्बिसयें श्लोकादि से कि एकान्त भक्ति से परमेश्वर का भजनकारी मनुष्य भगवत् की कृपा से ज्ञान लाभ के द्वारा मुक्त होता है सो विराग रहित पुरुष को एकान्त भक्ति अथवा ज्ञान होता ही नहीं इसी हेतु से वैराग्य कथन पूर्व्वक ज्ञान उपदेश करने के मनोरथ से प्रथम डेढ़ श्लोक करि के संसार स्वरूप को वृक्षरूप रूपक अलङ्कार से वर्णन करते हुये भगवान श्रीकृष्ण अर्ज्जुन से कहते हैं कि ऊर्द्धमूल कहे उत्तम अर्थात् चर अक्षर से भी उत्कृष्ट जो पुरुषोत्तम परमेश्वर सो संसार के मूल कारण हैं इसी से संसार ऊर्द्धमूल है और अधःशाख कहे परमेश्वर की अपेक्षा अधः अर्थात् कार्य्यरूप उपाधियुक्त हिरण्यगर्भ आदि जो संसार की शाखा स्वरूप हैं सोई संसार को अधःशाख कहा है और यह संसार विनश्वर हेतु से पर दिन प्रभात लौं रहैगा ऐसो विश्वास के योग्य नहीं है इसी से अश्वत्थ कहा और आठयें अध्याय के उनीसवें श्लोक की अभिप्राय से यह संसार प्रलय के अनन्तर पुनः पुनः कहे वार वार उत्पन्न होता है तो होना जाना इस हेर फेर लगे रहने से धारावाहिक वृत्तिरूप इस संसार का विच्छेद नहीं है अर्थात् सदा ही वना रहता है इस से अव्यय औ अनादि भी है और ऐसे ही श्रुतियों में भी कहा

यस्तं वेद सवेदवित् ॥१॥ अधश्चोर्द्ध्वञ्च प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः। अधश्च

भाषा अनुवाद

है और छन्द कहे वेद सकल इस संसार वृक्ष के पत्र हैं अर्थात् धर्म्म अधर्म्म का प्रतिपादन करने से छाया के तुल्य हैं और कर्मफल के हेतु संसार वृक्ष के आश्रित जीव समूह हैं यह कहते हुये वेद पत्र समान हैं जो मनुष्य ऐसे कर के संसार अश्वत्थ रूप को जानते हैं सोई वेद के अर्थवित् हैं तात्पर्य्य यह कि प्रपञ्च रूप संसार वृक्ष के मूल परमेश्वर और परमेश्वर के अंश स्वरूप जो ब्रह्मादिक सो सब शाखा समान हैं सोई वृक्ष विनश्वर औ प्रवाहरूप से नित्य भी है और वेद विहित कर्मों के द्वारा संसार वृक्ष की सेवा करना भी कहा है इतना ही वेदों का निश्चित अर्थ है इस से इस वृक्ष के ज्ञानी पुरुष को वेदवित् कहना चाहिये ॥१॥ और कार्य्यरूप उपाधि विशिष्ट हिरण्यगर्भ आदि जो सकल जीव सोई शाखारूप पूर्व्व लोक मे कहा है तिन के मध्य मे जो अकर्म्मकारी अर्थात् कुत्सित कर्म करते हैं तेई अधः अर्थात् पशु आदि योनि मे जाते हैं और जो सत् कर्म करते हैं वे ऊर्द्ध कहे देव योनि मे प्राप्त होय हैं येई संसार वृक्ष के शाखा रूप सत्व आदि गुणों की वृत्ति से जल सेचन के समान यथा योग बढ़ते हैं और शाखा के अग्रतुल्य इन्द्रिय औ इन्द्रियों के विषय जो रूप रस आदि सोई प्रधान अर्थात् पत्र तुल्य हैं और अधो भाग मे ऊर्द्ध भाग मे औ समस्त मूल मे परमेश्वर ही मुख्य मूल हैं और तद्भोग वासनारूप अवान्तर वासना सब अवान्तर मूल हैं और अवान्तर वासना के कार्य्य कहते हैं कि कर्म्म मात्र ही सकल वासना के अनुबन्ध अर्थात् उत्तर भावी कहे होन हार सोई वासना समस्त मनुष्य लोक मे कर्म्म अनुबन्धी होती है अर्थात् ऊर्द्ध अधो लोक मे भुक्त जो नाना प्रकार के भोग सोई सोई भोग वासना के द्वारा ही कर्म्म क्षय होने से मनुष्य लोक को प्राप्त लोगों को सोई सोई वासना अनुरूप सकल कर्मों मे प्रवृत्ति होती है और जिस हेतु मनुष्य लोक ही मे कर्म का अधिकार है और कोई लोक मे नहीं है इस से मनुष्य लोक ही मे वासनारूप मूल को कर्म का अनुबन्धी कहा है अब शोच यह है कि क्षणभङ्ग सकल साधन मनुष्य देह पाय के न कुछ कर सके इस मूल को भी भूल गये हाय किसी को

मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥२॥ न रूपमस्येह तथोपलभ्यतेनान्तो
नचादिर्नच सम्प्रतिष्ठा। अश्वत्थमेनं सुविरूढ़मूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥३॥ ततः
पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः
प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥४॥ निर्मानमोहाजितसङ्गदोषः अध्यात्मनित्याविनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वै विमुक्ताः सुख दुःखसंज्ञै र्गच्छन्त्य मूढ़ाः पदमव्ययं तत॥५॥ न तद्भाषयते सूर्य्यो

भाषा अनुवाद

देख के या किसी के उपदेश मे आंख अन्धे और कान बहिरे ही रह गये॥२॥ इस संसार मे वर्त्तमान जो प्राणी हैं वे संसार वृक्ष का ऊर्द्धमूल आदि भेद नहीं जानते हैं और अत्यन्त बड़े पन के हेतु से इस का अन्त भी नहीं जाना जाय है तथा अनादि हेतु से आदि भी नहीं कोई जानि सकै है और स्थिति अर्थात् यह संसार किस तरह स्थित औ कैसा है सो भी खबर किसी को नहीं है इस से यह संसार वृक्ष दुश्छेद्य कहे इस का काटना वड़ा कठिन है और अनर्थकारी है इसी हेतु इस संसार को दृढ़ वैराग्य रूप शास्त्र से छेदन कर के तत्त्वज्ञान की यत्न करना चाहिये यह डेढ़ श्लोक से कहते हैं कि यह अश्वत्थरूप दृढ़ मूल संसार को अहं ममता त्यागरूप दृढ़ अस्त्र स्वरूप सम्यक् विचार से छेदन अर्थात् पृथक् कर के ॥३॥ तदनन्तर संसार के मूल कारण स्वरूप तत्पद से कहे हुये जिस ईश्वर पद को अन्वेषण करना अर्थात् ढूंढना उचित हैं सो पद कैसा है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि जहां जाय कर फेर और संसार आवर्त्तन कहे आवागमन होता नहीं और अब भगवत्पद ढूंढने की रीति कहते हैं कि जिस से इस पुराने संसार की प्रवृत्ति भई है उसी आदि पुरुष के शरणागत होते हैं इसी तरह एकान्त भक्ति के द्वारा उस पद को ढूंढे॥४॥ सोई परमेश्वर की प्राप्ति के विषय मे दूसरी उपाय देखावते हुये कहते हैं कि जिन मनुष्यों के मान अहङ्कार औ मिथ्या वस्तु मे रुचि नहीं है अर्थात् मानादि दूर हो गये हैं और जिन के पुत्र स्त्री धन आदि से आसक्ति रूप दोष निवृत्त भये हैं और जिन को आत्मज्ञान मे भली प्रकार से निष्ठा है और जिन की वासना अच्छी तरह निवृत्त हो गई हैं और सुख दुःख के हेतु रूप शीत उष्ण हानि लाभ आदि द्वन्द्व से अच्छीतरह छूट गये हैं ऐसे जो निवृत्त

न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धामपरमं मम॥ ६॥ ममैवांशो जीव
लोके जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥ शरीरं
यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥
श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

भाषा अनुवाद

अविद्य कहे ज्ञानीजन हैं तेई अव्ययस्वरूप को प्राप्त होते हैं॥ ५॥ अब उसी अव्यय पद को विशेषरूप से कहते हैं कि उस पद को सूर्य्य चन्द्र अग्नि भी प्रकाश नहीं कर सकते हैं और योगीजन जिस पद को प्राप्त होय फेरि संसार मे आवर्त्तन कहे गमनागमन नहीं करते हैं सोई धाम कहे तेजरूप हमारा स्वरूप है जहां सूर्य्यादि की गति नहीं तहां दुख द्वन्द्व जड़ता का कौन प्रसङ्ग है॥६॥ जो कहो कि तुमारे धाम को प्राप्त होय फेरि संसार नहीं होता सो सत्य है सकल जीव सत् स्वरूप सम्पन्न होके द्वैत दृष्टि नहीं करते हैं और सुषुप्ति समय मे हम ब्रह्म भाव को प्राप्त होते हैं ऐसे श्रुति विधान करै हैं और प्रलयकाल मे भी सब जीव तिस धाम को प्राप्त होते हैं तो फेरि संसारी और किस का नाम है इस आशङ्का पर पांच श्लोक से संसारी स्वरूप देखावते हैं कि हमारा अंश जीव अविद्या से सुषुप्ति तथा प्रलय के समय प्रकृति मे लीन होके रहते हैं और मन समेत इन्द्रिय इन छवी को मेरे ही अंश सनातन जीवभूत संसार के उपभोगार्थ फेर भी मनुष्यलोक मे खैचै है यहां यह जानना चाहिये कि इन्द्रिय शब्द से ज्ञान कर्म इन्द्रिय औ पञ्च प्राण लेते हैं इसी से संसारी होते हैं॥ ७॥ और सोई इन्द्रिय को आकर्षण करि के जीव क्या करते हैं जो यह शङ्का करो तो सुनो कि जब ईश्वर नाम देह आदि का स्वामि स्वरूप व्यवहारिक जीव कर्म्मवशते दूसरी शरीर को प्राप्त होते हैं अथवा जब शरीर को छोडि के गमन करते हैं तब पूर्व शरीर से इन्द्रियादि को ग्रहण करि के ही गमन करै हैं इस मे दृष्टान्त यह कि जैसे वायु फुलों के स्थान से सुगन्धरूप सूक्ष्म अंश परमाणु ग्रहण कर के गमन करै है तैसे ही यह भी ग्रहण करता है सो जानो॥ ८॥ इन्द्रियों के समाचार कह के अब जिस लिये उन इन्द्रियो को ग्रहण करि के जीव गमन करते हैं सो कहते हैं कि ये जीव श्रोत्र चक्षु

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥ यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् । यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥ यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥ गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा । पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमभूत्वा रसात्मकः ॥१३॥ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणा-

भाषा अनुवाद

स्पर्श जिह्वा और घ्राण ये वाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरण को आश्रय करि के शब्द आदि विषयों को उपभोग करै हैं ॥ ६ ॥ जो कहो कि ऐसे आत्मा को कार्य्य कारण समूह से भिन्न रूप सब कोई क्यों नहीं देखते इस पर कहते हैं कि देहान्तरगामी अथवा उसी देह मे स्थित या विषयभोगी किम्बा इन्द्रियादि के युक्त जीव को विशेष मूढ़बुद्धि लोग सब नही देखते हैं परन्तु ज्ञान ही जिस के चक्षु हैं ऐसे विवेकी मनुष्य ही देखते हैं ॥ १० ॥ और यह आत्मा दुर्विज्ञेय है क्यों कि विवेकिओं के बीच भी कोई देखते और कोई नहीं देख सकते है सोई कहते हैं कि ध्यान आदि के द्वारा यत्नकारी योगीजन अपनी शरीर मे इस आत्मा को पृथक् रूप से देखते हैं और शास्त्र अभ्यास से यत्न कर के भी अकृतात्मा अर्थात् अशुद्ध चित्त मन्दमति लोग इस आत्मा को नहीं देखते हैं ॥ ११ ॥ इस से न तद्भासयते सूर्य्य आदि इसी अध्याय के सप्तम आदि श्लोक के द्वारा परमेश्वर का जो परम धाम सो कहा गया है और तद्धाम प्राप्त जीवों की अपुनरवार आवृत्ति कही गई है और तद्विषयक संसारी के अभाव आशङ्का पर देह से भिन्न संसारी स्वरूप को भी देखाया है अब सोई परमेश्वर सम्बन्धी रूप इहां से ले कर चार श्लोक से अनन्त शक्ति क्रम से निरूपण करते हैं कि सूर्य्यादि मे स्थित अनेक प्रकार तेज जो विश्व को प्रकाश करै हैं ऐसे ही चन्द्र मे स्थित जो तेज अखिल संसार को प्रकाश करते हैं तैसे ही अग्निस्थ तेज ब्रह्माण्ड दीप्त करै हैं सो सब तेज हमारा ही है यह जानो ॥१२॥ और पृथिवी को अपने बल के द्वारा स्थित कर के मै चराचरात्मक सकल भूतों को धारण करता हूं और अमृतात्मक चन्द्र स्वरूप होके वृक्ष आदि सम्पूर्ण शस्य को भी बढ़ावता हूं ॥ १३ ॥ और मै ही वैश्वानर नाम

पान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥ सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृति
र्ज्ञानमपोहनञ्च । वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम् ॥१५॥ द्वाविमौपुरुषौ
लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥ उत्तमः

भाषा अनुवाद

जठराग्नि स्वरूप होके प्राणियों की शरीर के मध्य मे प्रवेश कर के प्राण अपान वायु के साथ होय जीवों का भुक्त जो भोच्य भोज्य लेह्य चोष्य चतुर्व्विध अन्न तिस को परिपाक करता हूं भच्य वह है जो दांतों से पीस कर खाया जाय दाल भात चर्व्वन वगैरः और भोज्य जो जिह्वा के इसारे से निगला जाय खीर हलुआ आदि लेह्य वह है द्रवरूप आस्वादन पूर्व्वक पान किया जाय सहत दुग्ध आदि चोष्य कहे जो चूस कर घूट लिया जाय ऊख वगैरः को जानो ॥ १४ ॥ और मै हीं यावत् प्राणी के हृदय मे अन्तर्य्यामी रूप से प्रवेश करता हूं इसी से सब प्राणियों को पूर्व्वकृत अर्थ विषय का स्मरण होता है और इन्द्रियों के संयोग से जो रूपादि विषयों का ज्ञान सो हमी से होता है और अपोहन कहे स्मरण औ विषयों का ज्ञान इन दोनो का अभाव भी हम से ही होय है और वेदो मे कहे हुये तीन तीन देवता रूप भी हमी है और वेदान्तकृत अर्थात् शिष्य प्रशिष्य रूप से सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक कहे ज्ञानदाता गुरुस्वरूप भी मै हीं हों औ वेदार्थवित् भी मैहीं हूं ॥१५॥ अब तद्धाम परमं मम यह जो इस अध्याय के सप्तम श्लोक मे कहा अपना सर्व्वोत्त मत्व सो तीन श्लोक से देखावते हैं कि जो क्षर औ अक्षर स्वरूप दुई पुरुष लोक मे प्रसिद्ध है इन का विशेष यह है कि ब्रह्मा आदि स्थावर पर्य्यन्त जो देहधारी तिन का नाम क्षर पुरुष क्यों कि अविवेकियों को स्थूल शरीर मे पुरुषत्व प्रसिद्ध है और कूटस्थ कहे शिलाराशि पर्वत के समान देह नाश भये भी निर्विकार रूप से स्थिति करै ऐसा जो चैतन्य स्वरूप भोक्ता है क्यों कि देखो विवेकीजनो के विचारसे सोई अक्षर पुरुष है ॥१६॥ जिस हेतु क्षर और अक्षर दोनो पुरुष लक्षित भये हैं इस से जो उत्तम पुरुष सो इन दोनो से भिन्न है उस की विलक्षणता कहते हैं कि सो परमात्मा स्वरूप हैं यह श्रुतियों मे कहा हैं और आत्मा अचेतनरूप क्षर से तथा परमात्मा अक्षररूप भोक्ता से भी भिन्न हैं अब उन का परमात्मत्व देखावते

पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥ योमामेवमसम्मूढ़ो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्व्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १६ ॥ इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ। एतद्बुद्ध्वाबुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥ इति भगवद्गीतायां पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

भाषा अनुवाद

हैं कि सो ईश्वरपद वाच्य नियन्ता औ अव्यय कहे निर्व्विकार स्वरूप होके भी त्रैलोक्य के हृदय मे प्रवेश करि के प्राणी मात्र का प्रतिपालन करते हैं ॥१७॥ एवम्भूत पुरुषोत्तमत्व अपना नाम कहने से देखावते हैं कि जिस हेतु हम क्षर जो जड़ समूह तिन को अतिक्रमण करते हुये और नियन्तारूप चेतन जो अक्षर उस से भी उत्तम हैं इस से सकल लोक और वेद मे हम पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हैं सोई श्रुति कहती हैं कि सोई जो पुरुषोत्तम वे आत्मा औ त्रैलोक्य के वश करनेवाले और तीन लोक के ईश्वर सब के शासनकर्त्ता हैं यह भगवान ने अर्ज्जुन से कहा ॥१८॥ ऐसे ईश्वर के जानने हारा ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का फल कहते हैं कि हे भारत अर्ज्जुन इस तरह पूर्व्वोक्त निश्चित प्रकार से असम्मूढ़ कहे निश्चितमति होके जो पुरुषोत्तम स्वरूप हम को जानि सकै है सोई मनुष्य सम्यक् प्रकार से हम को भजै है तिस के अनन्तर सर्वज्ञ होता है यह जानो ॥१६॥ अब अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं कि हे अनघ निष्पाप अर्ज्जुन यह संक्षेप से अति रहस्य स्वरूप जो सम्पूर्ण शास्त्रों का सारांश सो मैने कहा केवल वीश श्लोकयुक्त एक अध्याय छोड़ के इस मे जो कोई होय यह मेरी कही हुई वाक्य को बोध करि के बुद्धिमान कहावता औ ज्ञानी होके चरितार्थ कृतार्थ होता है तो हे भरतवंशी अर्ज्जुन तुम जो चरितार्थ होउगे इस मे क्या और कुछ कहना है। सर्व्वत्र परिपूर्ण परमात्मा स्वरूप श्रीकृष्ण जी संसार वृक्ष को भिन्न कर के पुरुषोत्तम योग नाम पंद्रहें इस अध्याय मे अपना परमपद अर्ज्जुन को उपदेश किया है ॥ २० ॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी टीकायां पुरुषोत्तमयोग नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोड़श अध्याय: ।

श्रीभगवानुवाच । अभयं सत्त्वसंशुद्धि र्ज्ञानयोग व्यवस्थिति: । दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तपआर्जवम् ॥१॥ अहिंसासत्यमक्रोधस्त्याग:शान्तिरपैशुनम् । दयाभूतेष्वलो-

भाषा अनुवाद

अब इस सोलहें अध्याय का तात्पर्य्य कहते हैं कि आसुरी सम्पत् त्याग कर के दैवी सम्पत् आश्रय लेनेवाले मनुष्य मुक्त होते हैं इस की निर्णय करने के अर्थ इस अध्याय मे उस का विस्तार करते हैं कि हे अर्ज्जुन सकल शास्त्र के अनुरूप मेरे कहे हुये इस वृत्तान्त के जानने से लोग सम्यक् ज्ञानी औ कृतार्थ होते हैं यह भगवान ने पन्द्रहें अध्याय के अन्त मे कहा है तो कौन मनुष्य वह तत्त्व समझ सकते हैं और कौन नहीं इस अपेक्षा पर तत्त्व ज्ञान के अधिकारी औ अनधिकार की निर्णय करने के लिये सोलहें अध्याय का आरम्भ होता है क्यों कि जिसमे जिस का अधिकार है वह उसी से पूरा परता है इस से अब तत्त्व के अधिकारी पुरुष का गुण स्वरूप सम्पूर्ण दैवी सम्पत् को इस श्लोक से ले कर तीन श्लोक से कहते हैं कि अभय औ सत्व संशुद्धि कहे बुद्धि की प्रसन्नता औ ज्ञानयोग जो आत्मज्ञान की उपाय मे व्यवस्थिति कहे परिनिष्ठा औ दान कहे अपने भोजन की वस्तु अन्न आदि का भी यथा उचित देना तथा दम अर्थात् बाह्य इन्द्रियों का संयम करना औ यज्ञ कहे यथाविधि से दर्श पौर्ण मास आदि याग करना और स्वाध्याय कहे ब्रह्म यज्ञ और तप जो सत्रहें अध्याय के चौदहें श्लोक मे कहेहैं देव द्विज गुरु पण्डित ज्ञानी का पूजन तथा शौच सीधापन कोमलताई ब्रह्मचर्य्य अहिंसा इन को शरीर तप कहते हैं सो और आर्य्यव कहे सीधा स्वभाव ॥१॥ और अहिंसा कहे परपीड़ा

लुप्तं मार्द्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥ तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥ दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थसम्पदमासुरीम् ॥४॥ दैवीसम्पद्विमोक्षायनिबन्धायासुरीमता।

भाषा अनुवाद

का त्याग औ सत्य अर्थात् देखा सुना ज्यों का त्यों कहना औ अक्रोध कहे कोई मारै या कुवाच्य कहै तौ भी चित्त क्रोधवश न होने देना तथा त्याग कहे प्रिय अप्रिय मे उदासीनता और शान्ति अर्थात् विषयों से चित्त की निवृत्ति औ अपैशून्य कहे परनिन्दा वर्जन पीठि पीछे निन्दा करने को पैशून्य कहते हैं और दीन दरिद्र पर दया तथा अलोलुपत्व कहे निर्लोभता औ मार्दव जो कोमलता औ ह्री कहे कुकर्म्म करने मे लोकलज्जा तथा अचापल अर्थात् वृथा बोलना या वृथा कुछ करना चञ्चलताई जो सो ये सब न होय ॥२॥ और तेज कहे ढिठाई और क्षमा औ धृति कहे हानि तथा दुख मे धीरज रखना औ शौच अर्थात् बाहिर भीतर शुद्धता अद्रोह कहे हिंसा ईर्षारहित होना अति मानिता कहे अपनी पूजा मान प्रशंसा का अभाव येई अभय आदि जो छवीश प्रकार की दैवी सम्पत् हैं सो उसी को होती हैं जिस को कल्याण भावी हैं अर्थात् आगे भला होनहार है ॥ ३ ॥ अब आसुरी सम्पत् कहते हैं कि दम्भ कहे लोगों के सामने अपनी धार्म्मिकता प्रकाश के हेतु मन भावते कल्पित धर्म्मों की ध्वजा देखलाना और दर्प कहे धन उपार्जन तथा विद्या आदि मे चित्त की उत्साह कहे ऊंचाई और अभिमान कहे अपने हर तरह के महत्त्व से दूसरे को कुछ न समझना और क्रोध तथा पारुष्य जो कठोरता निठुरता और अज्ञान कहे अविवेक ये आसुरी कहे आसुर राक्षसों की जो सम्पत् इन मे रुचि जिन को होती है वे असुर राक्षस हैं ॥४॥ अब इन दोनों सम्पदों के काज अकाज देखावते हुये कहते हैं कि दैवी सम्पद से युक्त मनुष्य ही मेरे कहे हुये तत्त्वज्ञान के अधिकारी हैं और जो मनुष्य आसुरी सम्पद से युक्त हैं ते सदा ही संसारी होते हैं अब ये वचन भगवान के श्रवण कर के मै तत्त्वज्ञान का अधिकारी हौं कि नहीं इस सन्देह से व्यग्र चित्त अर्ज्जुन को समझावते हुये भगवान कहते हैं कि हे परन्तप तुम शोच न करो क्यों कि तुम

माशुचःसम्पदंदैवीमभिजातोसिपाण्डव ॥५॥ द्वौभूतसर्गौलोकेऽस्मिन्दैवआसुरएवच।
दैवीविस्तरशःप्रोक्तआसुरंपार्थ मे शृणु ॥६॥ प्रवृत्तिञ्चनिवृत्तिञ्चजनानविदुरासुराः।
नशौचं नापि चाचारोनसत्यं तेषु विद्यते ॥७॥ असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।

भाषा अनुवाद

दैवी सम्पद के अभिमुख जन्मे हो और दैवी सम्पद संयुक्त हो यह तुमारे आचरणों से प्रसिद्ध है ॥५॥ आसुरी सम्पद अच्छी प्रकार से वर्जन करना ही कर्त्तव्य कर्म है इस से आसुरी सम्पद को विस्तार करि के कहते हैं कि जो दो प्रकार की भूतों की सृष्टि है सो मेरे मुख से श्रवण करो इस जगह असुर राक्षस सम्बन्धी दोनो प्रकृति की एकता कर के दैव प्रकृति के साथ दुई मत कहा है इस से नवयें अध्याय के बारहें श्लोक मे आसुरीं राक्षसीं चैव इत्यादि त्रिविध प्रकृति के साथ विरोध नहीं है हे अर्जुन इस लोक मे देव औ असुर सम्पद से युक्त जो दो प्रकार भूतों की सृष्टि तिस के मध्य मे दैवी सम्पद युक्त सृष्टि मैने पूर्व ही विस्तार रूप से कहा है अब आसुरी सम्पद से युक्त सो सृष्टि जो हम से सुनो ॥ ६ ॥ आसुरी सम्पद इस श्लोक से ले कर बारह श्लोक तक दया करि के निरूपण करते हैं कि असुर स्वभाववाले मनुष्य सकल धर्म मे प्रवृत्ति औ अधर्म से निवृत्ति कैसी होती है सो जानते ही नहीं इसी से इन लोगों मे शौच आचार औ सत्यता का लेश मात्र भी नहीं रहता है यह तुम जानो ॥७॥ वेदविहित जो धर्म अधर्म तिस मे प्रवृत्ति को असुर स्वभाव मनुष्य क्यों नहीं जानते और धर्म्म अधर्म्म को अङ्गीकार न करने से सांसारिक सुख औ दुख आदि होना किस प्रकार से निरूपण किया जाय और शौच तथा आचार आदि मे ईश्वर की आज्ञा ही को वा कैसे लङ्घन करते हैं और ईश्वर को न मानि के जगत की उत्पत्ति किस से कहते है सोई कहते हैं कि जो वेद पुराण इतिहास को प्रमाण नहीं मानते और कहते हैं कि मुनि औ भांड़ तथा राक्षस येई तीनो ने वेद को बनाया हैं और जिन की धर्म्म अधर्म्म की प्रतिष्ठा अर्थात् व्यवस्था नहीं है तेई अप्रतिष्ठ कहे नास्तिक लोग अपनी पूर्वोक्त वाक्य को पुष्ट करने के कारण से इस जगत को अप्रतिष्ठ कहते हैं अर्थात् यह जगत की विचित्रता स्वभावसिद्ध मात्र कहते हैं और जिन के मत मे इस जगत का स्थापक

अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥८॥ एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः। प्रभवं त्युग्रकर्माणःक्षयायजगतोऽहिताः ॥९॥ काममाश्रित्यदुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः॥ मोहाद्गृहीत्वा सद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥ चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्ता-

भाषा अनुवाद

ईश्वर नहीं है इस से यह संसार अनीश्वर है ऐसे नास्तिक लोग अपनी बात का पक्ष कर के जगत् को अनीश्वर कहते हैं जो पूछो कि तौं फेरि वे लोग इस जगत की उत्पत्ति किस से मानते हैं इस पर उन की कहावत कहते हैं कि अपरस्पर कहे पर अपर से भिन्न जो स्त्री पुरुष इन दोनो के संयोग से संसार को उत्पत्ति होती है इस का और कोई कारण नहीं है यह जगत काम हेतुक अर्थात् स्त्री पुरुष इन दोनो का जो काम सोई धारा प्रवाह क्रम से इस संसार का कारण स्वरूप चला आवता है नास्तिक लोग ऐसे ही कहते हैं॥ ८ ॥ देखो निरीश्वर वादीयों की दृष्टि कहे तजवीज और कल्पना से कल्पित बातों औ उन के दर्शन कहे मतग्रन्थों का आश्रय कर के मलिन चित्त अल्प बुद्धि अर्थात् जो देखैं सुनै उसी पर तुर्त्त वे विचार विश्वास करि के मनुष्य जिन को हिंसा ही करना मात्र काम है वे शत्रुस्वरूप होके संसार के नाश के हेतु प्रगट होते हैं ॥९॥ और जो कामना भोगादि करने से भी कभी पूरी नहीं होती ऐसी कामना को अवलम्बन कर के दम्भ पाषण्ड से युक्त होय क्षुद्र देवता भूत प्रेत आदि की आराधना मे प्रवृत्त होते हैं सोई कहते हैं कि असतग्राह ग्रहण अर्थात् इस मन्त्र के द्वारा इस देवता को आराधना से बहुत धन प्राप्त होगा ऐसा दुराग्रह मोहवशते जो मनुष्य अङ्गीकार करि लेते हैं और अल्पबुद्धियों के अशुचि कहे मद्य मांस आदि युक्तव्रत नियम होते हैं तेई मनुष्य इन निषिद्ध कर्मों मे प्रवृत्त होते हैं ॥१०॥ और प्रलय कहे मरण काल पर्य्यन्त है जिस का अन्त ऐसी जो अपरिमेय चिन्ता अर्थात कितनी है इस का ठिकाना नहीं तिस के आश्रित कहे चिन्तापरायण मनुष्य जिन को काम भोग करना ही परम प्रयोजन है और काम भोग छोड़ के दूसरा और कोई परमपुरुषार्थ नहीं हैं इतनी ही किये हैं निश्चय जो लोग ते कुकर्म के द्वारा धन सञ्चय करने की इच्छा करते हैं इस श्लोक की पर श्लोक के साथ अन्वय होती है

सुपाश्रिताः। कामोपभोग परमाएतावदिति निश्चिताः॥ ११॥ आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥ इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥ असौ याहतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥१४॥ आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया। यक्ष्येदास्यामिमोदिष्य इत्यज्ञान वि-

भाषा अनुवाद

वृहस्पति का सूत्र प्रमाण देते हैं काम एवैकः पुरुषार्थ इति इस का अर्थ यह है कि चैतन्यविशिष्ट जो काम उसी को पुरुष पद से कहते हैं॥ ११ ॥ इसी से आशा रूप सैकड़ों रसीकों से बन्धे इधर उधर खैंचे जाते हुये लोग काम क्रोध के आश्रय स्वरूप भूत काम उपभोग के अर्थ अन्याय कहे चोरी लवारी दगावाजी ठगी बटपाडी से धन बटोर नें की इच्छा करते हैं इसी से बह धन कुकर्म छोड़ सुकर्म मे नहीं लगै है देखो अज्ञानी आप अपने हाथ गले मे सैकड़ों फांसी लगाय लेते हैं॥ १२ ॥ अब ऐसे लोगों के मनोरथ कहि कर उन को नरक प्राप्ति का वृत्तान्त इस श्लोक से लेकर चार श्लोक से कहते हैं कि इसी अज्ञान से विशेष मोह को प्राप्त होके नरक मे पड़ते हैं देखो उन की रुची औ मनोरथ ये हैं कि आज हम को यह लाभ भई और यह मनभावती प्यारी वस्तु परे कहे आगे पावेङ्गे और यह धन हमारे है हमारा है और फेर भी तजवीज लगाये हैं कि वह धन भी हमारा होता है परन्तु यह नहीं शोचते कि हम किस के हवाले होयङ्गे और किस गति को जायङ्गे॥ १३ ॥ और इस शत्रु को हम मार डालेङ्गे औ इस को मार लिया है और हम जो चाहैं सो करैं हम कर्त्ता और हम भोगी हैं हम सिद्ध हैं जो कुछ करना था कर चुके हैं हम बलवान् हम सुखी हैं इन सब बातों का स्मरण तो क्षण भर भी नहीं भूलते पर काल बलवान की सुध को तो एक वारगी ही भूल भये हैं कि वह क्या करेगा॥ १४ ॥ और हम धनी हैं हम अभि जनवान् अर्थात् कुलीन तथा यज्ञ दान आदि जो कभी किया तो समझते हैं कि हमारी बराबर और किसी ने नहीं किया लोगों मे हम बड़ी प्रतिष्ठा पावेङ्गे अर्थात् प्रशंसा होगी और जो कोई हमारी स्तुति करेगा उस को हम

मोहिताः ॥ १५ ॥ अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥ आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः। यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥ अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः।

भाषा अनुवाद

धन वस्त्र आदि देयके और उस पर हम प्रसन्न होयङ्गे इस प्रकार के मनुष्य अज्ञान से विमोहित मिथ्या अभिनिवेश को प्राप्त कहे झूठे मनोरथों मे डूबे हुये हैं ॥१५॥ ऐसे मनुष्य जिस प्रकार का फल पावते हैं सो सुनो कि अनेक चित्त कहे मन की लाखों अभिलाषों मे प्रवृत्त जो चित्त तिससे विक्षेप को प्राप्त ये लोग सोई सोई मोह मय जाल से घेरे हुये अर्थात् सूत के जाल मे बद्ध मत्स्य के समान बन्धे हैं और कामभोग मे आसक्त होके अशुचि जो क्लेशयुक्त नरक तिसमे आपही से पड़ते हैं ॥१६॥ यज्ञ करि के औरों से हम बड़ी प्रतिष्ठा पावें ऐसे जो उन के मनोरथ जो पीछे पन्द्रहें श्लोक मे कहा है वह अभिलाष केवल दम्भ अहङ्कार आदि प्रधान है सतोगुण प्रधान नहीं है इस अभिप्राय पर दो श्लोक से कहते हैं कि आप अपने मन से सम्भावित कहे महात्मा बने हैं पर कोई साधु उन की प्रतिष्ठा नहीं करते हैं इसी से वे शुष्क अर्थात् अनम्र स्वभाव कहे कठोर चित्त मनुष्य धनादि से जो मान औ अहङ्कार तिस से युक्त होके यज्ञ दान आदि का तो केवल नाम मात्र ही है पर करते हैं इस वास्ते कि फलाना आदमी बड़ा पूजा करनेवाला औ दानी है ऐसे नाम प्रसिद्ध होय इस वासना से यज्ञ दान करते हैं वह यज्ञ दान करना कैसा है सो कहते हैं कि वे खाली अपनी अपनी ख्याति लाभ अर्थात् लाभ के लिये छोड और कुछ श्रद्धा से नहीं करते हैं तो अविधि पूर्वक यज्ञ दान जैसे है वह भी तैसे ही निष्फल है यह जानो॥ १७ ॥ अब अविधि पूर्वकत्व को प्रकाश करते हैं अभ्यसूयक कहे निन्दा करनेवाले मनुष्य अर्थात् भगवान कहते हैं कि मेरे पथ के अवलम्बी पुरुषों के गुणों मे दोष लगाने हारे मनुष्य अहङ्कार बल औ प्रगल्भता जो ढीठापन तथा काम औ क्रोध का आश्रय कर अर्थात् वश होय अपनी देह औ पर की देह मे चेतन ज्ञान रूप से टीका जो मैं हूं सो सम्पूर्ण रूप से मेरे प्रति द्रोहकारी यज्ञ आदि कर्म करते हैं परन्तु मारे दम्भ के

मामात्म परदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥ तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराध-
मान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभा नासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥ आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा
जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥ त्रिविधं नरकस्येदं
द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥ एतैर्विमुक्तः
कौन्तेय तमो द्वारैस्त्रिभि र्नरः। आचरत्यात्मनः श्रेय स्ततो याति पराङ्गतिम् ॥२२॥ यः

भाषा अनुवाद

यज्ञादि में श्रद्धा के विना अपने को दृथा क्लेश देते हैं और पशु आदिकों को भी अविधिपूर्वक नाहक हिंसा करने से चैतन्य जीव का द्रोह मात्र ही फल उत्पन्न होय है और तो कुछ हाथ लगता नहीं इसी से ये मनुष्य मेरे साथ द्रोह करनेवाले मेरे शत्रु तुल्य हैं इस से इन हत्यारों को जो फल मिलेगा वह तुम जानि लो ॥१८॥ और उन का आसुरी स्वभाव कभी जाता नहीं यह दो श्लोक से कहते हैं कि हम से द्वेष करनेवाले क्रूरस्वरूप नराधमों को मैं जन्म मृत्यु की मार्ग स्वरूप संसार में आसुरी कहे अति क्रूर व्याध सर्प आदि दुष्ट योनि में हमेसा फेंका करता हूं अर्थात् उन को वही निषिद्ध योनि मिला करती हैं ॥१९॥ और अब कहने से इस श्लोक में यह कहा गया कि हे कौन्तेय अर्ज्जुन बहुत जन्म आसुरी योनि में प्राप्त जो मूढ़जन उन को मेरी प्राप्ति की शङ्का कहां है वलिक मेरी प्राप्ति की उपाय जो सत् मार्ग उस को भी न पाय के असुरादि योनि से भी अधम जो कृमि कीटादि गति तिस दुर्गति को वे जाते हैं ॥२०॥ पूर्व कहे हुये सब आसुरी दोषों के मध्य मे सकल दोष के कारण स्वरूप जो तीनि दोष तिन को सदा ही त्याग करना योग्य हैं सोई कहते हैं कि काम क्रोध औ लोभ ये तीन दोष नरक के द्वार स्वरूप हैं तो क्यों न नीच योनि प्राप्ति कारक होय इसी से मुमुक्षु कहे मुक्ति की इच्छा रखनेवाले इन तीनो दोषों को सब तरह से त्याग करें है ये अनर्थ के मूल हैं औ देखो कैसे दुखदाई हैं ॥२१॥ अब इन तीन दोषों के त्याग करने में विशेष फल कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्ज्जुन तम कहे नरक के द्वार रूप काम आदि तीन दोष से अच्छी तरह मुक्त पुरुष अपने कल्याण के साधन स्वरूप तप योग आदि आचरण करते हैं और तिस के अनन्तर मुक्ति पावते हैं ॥२२॥ कामादि त्याग

शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्
॥२३॥ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्य व्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्त्तु-
मिहार्हसि ॥२४॥ इति दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

भाषा अनुवाद

करना भी स्वधर्म्म आचरण के विना नहीं हो सकै है यही कहते हैं कि शास्त्र औ विधि कहे वेद विहित धर्म्म त्याग कर के जो मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कर्म्म करते हैं वे सिद्धि कहे तत्त्व ज्ञान को नहीं पावते हैं और उपशम अर्थात् शान्तिरूप सुख भी नहीं पावते और न उत्तम गति जो मुक्ति तिस को पावते हैं ॥ २३ ॥ अब तात्पर्य्य कहते हैं कि यह काज औ यह अकाज इस की व्यवस्था कहे निर्णय में तुम को शास्त्र औ वेद स्मृति कहे धर्म्म शास्त्र पुराण प्रमाण स्वरूप हैं इस से शास्त्र की विधि में कहे जो कर्म्म तिन को जानि कर इस कर्म्म अधिकार में वर्त्तमान तुम अपने अधिकार के अनुरूप कर्म करने को योग्य होउ जिस हेतु सत्त्व शुद्धि औ सम्यक् ज्ञान औ मुक्ति के विषय में भी कर्म हीं मूल कहे कारण स्वरूप है ॥ २४ ॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी भाषा टीकायां षोडश अध्याय ॥ १६ ॥

सप्तदश अध्यायः।

अर्ज्जुन उवाच। ये शास्त्र विधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रज स्तमः॥१॥ श्रीभगवानुवाच। त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञान के अधिकारी होने मे जो सात्त्विकी श्रद्धा है सोई मुख्य कारण है यह पूर्व ही कहा है इस से अब सत्रहें अध्याय मे भगवान श्रद्धा के तीनि भेद कहेङ्गे और जो सोरहें अध्याय मे यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः इस तेईसवें श्लोक मे कहा कि वेद शास्त्र की विधि छोडि अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करनेवाले को तत्त्वज्ञान नहीं होता है तो विधि त्याग करि श्रद्धा से कर्म मे वर्त्तमान जनो को तत्त्वज्ञान का अधिकार है कि नहीं यही ज्ञान होने की इच्छा से अर्ज्जुन कहते हैं कि जो मनुष्य वेद शास्त्र की विधि को दुख समझ कर अथवा आलस्य से त्याग करि के केवल लोकाचार के अनुसार श्रद्धायुक्त होय यज्ञ दान आदि कर्म करते हैं उस की निष्ठा कहे स्थिति कैसी होती हैं इसी को पूछते है कि हे कृष्ण उन की जो देव पूजा अथवा यज्ञ आदि कर्म हैं सो सात्त्विक राजसी किम्बा तामसी हैं ऐसी तीन प्रकार की श्रद्धा होती हैं जो ये पूर्व्वोक्त कर्मकारी लोग सतोगुणी होंय तो सात्त्विक हेतु से तत्त्वज्ञान मे उन का अधिकार हो सकै है और जो सतोगुण युक्त न होंय तो नहीं हो सकता है यह पूछने का तात्पर्य्य है॥ १ ॥ इस का उत्तर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह जो वेद शास्त्र के क्रम से भगवद्दर्शन करनेवालों की सात्त्विकी श्रद्धा एक ही प्रकार की है पर हां लोकाचार अनुसार कर्म अनुष्ठान करनेवालों की जो श्रद्धा सोई सात्त्विकी राजसी तामसी

सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥ सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषोयोयच्छ्रद्धःसएवसः ॥३॥ यजन्ते सात्त्विकादेवान् यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥ अशास्त्र

भाषा अनुवाद

तीन प्रकार की होती है तिस का कारण यह है कि स्वभाव कहे पूर्व्व कर्म्म के संस्कारवशते उत्पन्न जो श्रद्धा उस को स्वभावजा कहते हैं इस से स्वभाव को अन्यथा करने मे निश्चित समर्थ जो शास्त्रोक्त विवेक ज्ञान सो लोकाचार कर्म्म करनेवालों को नहीं है इस से शुद्ध पूर्व्व स्वभाव के क्रम से उत्पन्न जो श्रद्धा सो तीन प्रकार की होती है सो तीन भेद क्रम से सुनो परन्तु भगवत अर्चन विषयक सात्विकी श्रद्धा जो एक ही प्रकार है सो भी व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन इस दूसरे अध्याय के एकतालिशयें श्लोक मे कही गई है यह जानो ॥२॥ पूर्व्वपक्ष कहते हैं कि हां श्रद्धा सात्विकी है क्यों कि श्रीभगवानने एकादशस्कन्ध के पचीशयें अध्याय के द्वितीय श्लोक से सत्व कार्य्यरूप ही भगवान उद्धव के प्रति निर्देश किया अर्थात् दिखाया है कि शम दम तितिक्षा ज्ञान तप सत्य दया स्मृति तुष्टि त्याग अनिच्छा श्रद्धा लज्जा औ आत्मनिवृत्ति कहे आत्मसुख ये सब वृत्ति सतोगुण ही की हैं इस से श्रद्धा तीन प्रकार की कैसे कहते हैं जो ऐसा कहो तो सुनो कि हां सत्य कहते हो पर तथापि रजोगुण औ तमोगुण के संयोग से सत्वगुण की तीन प्रकारता हेतुक सात्विक श्रद्धा भी जो तीन प्रकार होती हैं सोई कहते हैं कि जो पूर्व सात्विक स्वभाव था सो उस के संस्कार से फेर भी सात्विक श्रद्धायुक्त होता हैं और जो रजोगुण प्रकाश था सो सतोगुण स्वभाव होता और तमोगुण वालों की तमोगुणी श्रद्धा होती अर्थात् तामसयुक्त होता है इस कारण लोकाचार कर्म कारी से सात्विक राजस तामस स्वरूप तीन प्रकार श्रद्धा का निर्देश मात्र कहे देखाया है परन्तु जो लोग शास्त्रज्ञान से प्रगट विवेक ज्ञान से युक्त है तिन का स्वभाव सर्वोत्तम होने के वास्ते एकही प्रकारकी श्रद्धा होती है इतना ही इस प्रकरण का तात्पर्य्यार्थ है ॥३॥ सात्विक आदि जो गुणभेद उसी को कार्य्य भेद से विस्तार कर कहते हैं कि सात्विक स्वभाव के जन सत्व प्रकृति लोग देवतों को पूजते हैं ऐसे

विहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः। दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामराग बलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। माञ्चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्
॥६॥ आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः। यज्ञ स्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं
शृणु ॥७॥ आयुः सत्व बलारोग्य सुख प्रीतिविवर्द्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या-

भाषा अनुवाद

ही राजस स्वभाव रजः प्रकृति देवता यक्ष राक्षसादिकों को पूजते औ तामसी तमोगुणी भूत प्रेतों को पूजते हैं ॥ ४ ॥ और राजस तामस के मध्य मे भी जो विशेष है सो फेर दो श्लोक से कहते हैं कि शास्त्र को विना जाने भी पूर्व संस्कार बल से कोई कोई उत्तम पुरुष सात्विक स्वभाव होते हैं कोइ मध्यम जन राजस स्वभाव होते और कोई अधम लोग तामस स्वभाव होते हैं और जो अत्यन्त मन्दभाग्य लोग अन्ध परम्परा मे पाषण्डियों के सङ्ग से पाषण्ड आचार के अनुवर्त्ती होके शास्त्र विधान से भिन्न लोक भयङ्कररूप तपस्या करते हैं तिन के विषय मे हेतु स्वरूप दम्भ औ अहङ्कार से संयुक्त तथा काम कहे अभिलाष औ राग कहे अभिलषित वस्तु मे चित्त रञ्जन के अनुरूप जो अधिक आसक्ति और बल कहे विषयों का आग्रह इस सब से युक्त होके। इस श्लोक का अर्थ दूसरे श्लोक के साथ पूरा होता है ॥ ५ ॥ शरीरस्थ कहे शरीर के कारण रूप देह मे वर्त्तमान जो पृथिवी अप तेज वायु आकाश पञ्च भूत तिन को वृथा उपास करने से दुर्बल कर के औ अन्तर्यामीरूप देह के वीच टिके हुये मेरे को भी लङ्घन कर दुखदाई होय जो अविवेकी लोग तपस्या करते हैं तिन को असुर निश्चय कहे अति क्रूर बुद्धि जानो तात्पर्य्य यह कि मेरी आज्ञा लङ्घन करना ही मुझे दुःख देना हैं ॥६॥ और आहारादि भेद से भी सात्विकादि गुण देखावने के मनोरथ से इस श्लोक से ले कर त्रयोदश श्लोक पर्य्यन्त कहते हैं कि सकल मनुष्यों का आहार जो अन्न आदि भी यथा योग्य तीन प्रकार से प्रिय लगता है और यज्ञ तपस्या तथा दान आदि भी तीन प्रकार के होते हैं सो सब भेद सुनो कि राजस तामस आहार और यज्ञ दानादि परित्याग कर के सतोगुण की वृद्धि के निमित्त सात्विक आहार औ यज्ञ आदि के विषय मे जो यत्न करना कर्त्तव्य है यह भगवान कहते हैं ॥ ७ ॥ अब पूर्वोक्त

चाहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८॥ कट्वम्ल लवणात्युष्ण तीक्ष्णरूक्ष विदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥ यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितञ्च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥ अफलाकाङ्क्षिभि र्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधायस सात्त्विकः ॥११॥ अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थ-

भाषा अनुवाद

सात्त्विकादि आहार के तीन प्रकार भेद तीन श्लोक से कहते हैं कि आयु कहे जीवन सत्त्व कहे उत्साह बल कहे शक्ति औ आरोग्य औ सुख कहे चित्त की प्रसन्नता प्रीति कहे अभिरुचि इस से यह आया कि आयु सत्त्व आदि के बढ़ानेवाले और रस्य कहे रसयुक्त और स्निग्ध कहे चिकने घृतयुक्त औ स्थिर कहे रसांश के द्वारा चिरकाल देह मे रहनेवाले और हृद्य कहे देखते मात्र भोजन की इच्छा होय ऐसे सुन्दर स्वरूप आहार भक्ष्य भोज्य आदि सात्विक रूप सात्विक स्वभाव पुरुष को प्रिय होते हैं ॥८॥ और अति कटु नीम्ब आदि औ अति अम्ल औ अति लवण औ अति उष्ण कहे गरम औ अति तीक्ष्ण मरिचादि औ अति रूक्ष औ अति उग्र सरसों आदि ये सब राजस स्वभाव मनुष्य को प्रिय होते हैं परन्तु ये सब वस्तु दुःख कहे भोजन समय मे हृदय को सन्ताप आदि और शोक कहे भोजन के अनन्तर अप्रसन्नता और आमय कहे रोग ये सब खानेवाले को देते हैं क्यों कि ये सब दुख शोकमय है ॥९॥ और जो अन्न यातयाम कहे जिस को एक पहर बीत गया और ठण्ढा हो गया और गतरस कहे जिस का रस सूख गया सीठी सा रह गया औ पूति कहे दुर्गन्धयुक्त जो है और पर्य्युषित कहे बासो अन्न औ उच्छिष्ट कहे दूसरे को झूठा और अमेध्य कहे अपवित्र अभक्ष्य मांस आदि ऐसे आहार तामस स्वभाव मनुष्यों को प्रिय लगते हैं ॥ १० ॥ और यज्ञ भी तीन प्रकार को हैं तिन के बीच मे सात्विक जो यज्ञ सो तीन श्लोक से कहते हैं कि जो पुरुष फल की आकाङ्क्षा रहित अवश्य कर्त्तव्य है यह जानि यज्ञ करते सो यज्ञ सात्त्विक कहावती है और वे मनुष्य किस कारण से यज्ञ अनुष्ठान करते इस पर कहते हैं कि यज्ञकर्म करना ही चाहिये और कोई फल के अर्थ कर्त्तव्य नहीं है ऐसा विचारि मन को एकाग्र कर के यज्ञ करते हैं ॥ ११ ॥ राजस यज्ञ कहते हैं कि हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन

मपि चैव यत्। इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥ विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्र- हीनमदक्षिणम्। श्रद्धा विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥ देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१४॥ अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितञ्च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥ मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपोमान समुच्यते॥१६॥ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः। अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥

भाषा अनुवाद

फल की कामना पूर्वक अपने महत्व को जनावने के अर्थ जो यज्ञ की जाई जाय सो राजस यज्ञ जानो॥१२॥ अब तामस यज्ञ कहते हैं कि विधि हीन औ असृष्टान्न कहे यज्ञ के अर्थ अन्न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य से नहीं मिला होय सो अन्न औ मन्त्र हीन औ दक्षिणा दान रहित होय तथा श्रद्धा वर्जित की जाई यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं॥ १३॥ तपस्या भी सात्त्विकादि भेद देखावने के मानस से प्रथम शरीरादि के भेद क्रम से त्रिविध है सो तीन श्लोक से कहते हैं कि प्राज्ञ कहे गुरुजन से भिन्न और और तत्त्वज्ञानी औ ब्राह्मण तथा गुरुजन की पूजा और शौच आदि क्रिया इन सब को शिष्ट पुरुष शरीर सम्पादित तपस्या कहते हैं॥१४॥ और वचन सम्बन्धी तपस्या कहते हैं कि कोई मनुष्य जिन से भय न होय ऐसे अनुद्वेग कर वचन और सत्य तथा श्रोता को प्रिय लगै और परिणाम कहे अन्त को सुखदाई और वेद अभ्यास करनेवाले वचनों को भी वाक्य तपस्या कहते हैं॥१५॥ अब मानसिक तपस्या कहते हैं कि मन की निर्मलता और सौम्यत्व कहे अक्रूरता और मौन कहे मुनिधर्म जो मनन करना आत्मविनिग्रह कहे विषयों से इन्द्रियों को निग्रह जो रोकना और भाव संशुद्धि कहे व्यवहार मे निष्कपट रहना ये सब मानसिक तपस्या स्वरूप कहे जाते हैं॥१६॥ शरीर वचन मन के द्वारा तीन प्रकार तपस्या देखाया सोई तीन प्रकार तप जो सात्त्विकादि गुण भेद से भी तीन प्रकार है सो तीन श्लोक से कहते हैं कि जो उत्कृष्ट श्रद्धा से फल की कामना रहित औ एकाग्र चित्त होय मनुष्य लोग त्रिविध प्रकार कर्म करते तिन को पण्डित लोग सात्त्विक कहते हैं॥ १७॥ राजस कहते हैं कि जो सत्कार

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८॥ मूढग्राहेणात्मनो यत्पीड़या क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥१९॥ दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥२०॥ यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१॥ अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदा-

भाषा अनुवाद

अर्थात् यह पुरुष साधु औ यह तपस्वी ऐसे प्रतिष्ठावचनो से जो पूजा औ मान कहे उन को देख उठ खडे होना औ प्रणाम करना आदि जो दैहिक पूजा और पूजा कहे अर्थ लाभादि इन सब के निमित्त औ अपने महत्व के प्रकाश के अर्थ जो की जाय अथवा जो अनित्य और क्षणिक रूप है उसी को इस लोक मे शिष्ट लोग राजस कहते हैं॥१८॥ तामस तपस्या कहते हैं कि अविवेक से कुचेष्टा कर शरीर को क्लेश देय किम्बा और किसी के विनाश या दुःख के अर्थ अभिचार स्वरूप जो तपस्या तिस को पण्डितजन तामस तपस्या कहते हैं॥ १९ ॥ पूर्व कथित अङ्गीकृत दान के विषय मे भी सात्त्विकादि तीन प्रकार कहते हैं कि दान करना हीं चाहिये ऐसी निश्चय से जो दान और उस से प्रत्युपकार न होय अर्थात् अपना उपकार न चाहै न वह पुरुष उपकार के योग्य होय जिस को दान देय और कुरुक्षेत्र काशी प्रयाग तीर्थ स्थान मे तथा ग्रहण संक्रान्ति पर्व आदिक मे और वेद शास्त्र-युक्त ब्राह्मणों को अथवा यह पात्र सकल आपदों से दाता की रक्षा करै एवम्भूत पात्रा कहे पात्र को जो दान दिया जाय उसी को पण्डित जन सात्विक दान कहते हैं॥२०॥ राजस दान कहते हैं कि समय के अनुसार यह मेरा प्रत्युपकार करेगा इस हेतु से अथवा स्वर्गफल भोग के अर्थ चित्त क्लेशयुक्त देते समय कष्ट होय अर्थात् ऐसा जो दान तिस को शिष्ट लोग राजस कहते हैं॥२१॥ अब तामस दान कहते हैं कि अदेश कहे अपवित्र स्थान मे अकाल कहे अशौचादि समय मे और अपात्र कहे चोर लबार नाचने नकल करनेवालों को जो दान अथवा देश काल विद्यमान के रहते भी असत्कृत कहे पाद प्रक्षालन आदि सत्कार रहित अथवा अनादर से जो दान सुपात्र को भी दिया जाय तिस को शिष्ट लोग तामस दान

हुतम्॥२२॥ ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२३॥ तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ दान तपः क्रियाः। प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सतत ब्रह्मवादिनाम्॥२४॥ तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञ तपः क्रियाः। दान-

भाषा अनुवाद

कहते हैं॥२२॥ जो कहो कि ऐसा विचार करने से प्राय सब यज्ञ औ तपस्या तथा दान आदि राजस औ तामस मात्र ही होते हैं इस कारण यज्ञ आदि कर्म्म मे यत्न करना वृथा है इस शङ्का पर पूर्व्वोक्त यज्ञ दान आदि बहुधा राजस तामस होने से भी सात्त्विकत्व प्रतिपादन की उपाय देखाय कर कहते हैं कि ओं तत् सत् ये जो तीन शब्द सो परमात्मा के नाम के अनुरूप निर्दिष्ट हैं इन के मध्य मे अकार उकार औ मकार का स्वरूप जो ओंकार सो ब्रह्म है यह श्रुतियों मे प्रसिद्ध है सो ओं शब्द ब्रह्म हीं का नाम है और जगत्कारण हेतु से ज्ञानियों को अपरोक्ष है तत् भी ब्रह्म औ परमार्थ औ विद्यमानत्व औ साधुत्व औ प्रसस्तत्वादि प्रयुक्त और हे सौम्य इस जगत् की सृष्टि के पूर्व्व सत् स्वरूप मे था ऐसे श्रुतियों के कहने से सत् शब्द भी ब्रह्म हीं का नाम है यह त्रिविध नाम कहने से निकृष्ट को भी उत्कृष्ट करने को नाम समर्थ है इस अभिप्राय से प्रशंसा करते हैं कि विधाता ने सृष्टि के प्रथम इस परमात्मा के त्रिविध नाम का उद्देश कर के ब्राह्मण औ वेद औ यज्ञ का निर्माण किया अथवा जो परमात्मा का यह तीन प्रकार निर्देश है सोई परमात्मा ने ब्राह्मण अति पवित्र को सृष्टि किया इस से ओं तत् सत् कहना अति प्रसस्त कहे उत्तम है॥२३॥ अब ओंकारादि शब्दों की प्रसस्तता देखावने के मनोरथ से ओंकार का प्रसस्तत्व कहते हैं कि जिस हेतु परमात्मा का निर्देश इसी रूप से प्रसस्त है इस से ओं मात्र उच्चारण पूर्व्वक वेदादि कृत यज्ञ दान औ तपस्या औ शास्त्रोक्त क्रिया सकल यथावत् सम्पूर्ण न होने से अर्थात् हीन होने से भी अच्छी तरह गुण सम्पन्न सर्व्वाङ्ग पूर्ण होती हैं॥२४॥ दूसरे नाम की प्रशंसा करते हैं इस स्थल मे पूर्व्वोक्त ओं शब्द के साथ तत्पद का सम्बन्ध है शुद्ध चित्त मुमुक्षु पुरुषों की अकृत फल रूप कामना ब्रह्म रूप यज्ञ आदि क्रिया तत् शब्द उच्चारण पूर्व्वक की जाती हैं इसी से चित्त शुद्धि के द्वारा फल सङ्कल्प

क्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥ सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥ यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते। कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥ अश्रद्धयाहुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्यनो इह ॥ २८ ॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

भाषा अनुवाद

त्याग पूर्व्वक मुमुक्षुत्व हेतु से तत् शब्द का निर्देश करना भी प्रशस्त है ॥ १५ ॥ सत् शब्द प्रसस्त है यह दो श्लोक से कहते हैं कि सत् भाव कहे अस्तित्व और साधु भाव कहे साधुत्व इन दोनो अर्थ को सत् शब्द कहता है और हे अर्ज्जुन प्रसस्त कहे माङ्गलिक विवाहादि कर्म्म मे भी यह सत् कर्म्म इन विषयों मे सत् शब्द का प्रयोग योग्य है और मङ्गलादि अर्थ को भी कहता हैं ॥२६॥ और यज्ञ तप दान मे जो स्थिति कहे इन का तात्पर्य्य जानि कर अवस्थान है उस को भी विद्वान जन सत् कहते हैं औ परमात्मा के अर्थ अथवा यज्ञ तप दान के अर्थ जो कर्म्म किये जायें वे सत् कहे जाते हैं जो ये यज्ञ दान तप आदि कर्म्म परमात्मा की सेवा के अर्थ जो कर्म्म सब असात्त्विक किम्बा विगुण अङ्गहीन भी होय पर श्रद्धापूर्व्वक किये होंय और ब्रह्म के नाम जो ओं तत् सत् इन मे युक्त किये होंय तो सगुण सात्विक होते हैं ॥२७॥ अब मनुष्य श्रद्धा पुर्व्वक कर्म मे प्रवृत्त होंय इस लिये अश्रद्धा कृत कर्म्म की निन्दा करते हैं कि अश्रद्धा से होम तप दान औ पूजा आदि कर्म जो किये जाते हैं उन को ज्ञानी औ शिष्ट कहे भले लोग असत् मात्र कहते हैं क्यों कि अङ्ग विकल होने से इन कर्मों का फल परलोक मे भी नहीं होता है और अयश करनेवाले हैं इस से इह लोक मे भी कुछ फल नहीं है तो शरीर का क्लेश औ धन की खराबी करने से भी क्या फल है अयश तो न कर के औ कर के भी मिले हो जो इस फल की इच्छा होय तो ॥ २८ ॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनीटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अष्टादश अध्यायः ।

अर्ज्जुन उवाच । संन्यासस्य महावाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् । त्यागस्य च हृषीकेश

भाषा अनुवाद

अब प्रथम समग्र अष्टादश अध्याय का तात्पर्य्य संक्षेप से श्रीधरस्वामी कहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण ने समग्र गीताशास्त्र का जो संग्रह अर्थ सोई परमार्थ है यह निर्णय करने के अर्थ आठारहें अध्याय मे सन्न्यास औ त्याग भिन्न भिन्न कर के स्पष्ट रूप से कहा है और सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी यह ५ अध्याय का १३ श्लोक औ शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः संन्यास योगयुक्तात्मा विमुक्तोमामुपैष्यसि यह ६ अध्याय का २८ श्लोक औ त्यक्त्वा कर्मफला सङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः यह ४ अध्याय का २० श्लोक औ सर्व्व कर्मफलत्यागं ततः कुरुयतात्मवान् यह १२ अध्याय का ११ श्लोक औ इन सब श्लोकों से और और अध्याय मे भी तीन तीन श्लोकों से फल मात्र त्याग कर के निष्काम समस्त कर्म्म कर ने का उपदेश दिया है परन्तु परम करुणामय सर्व्वज्ञ जो भगवान श्रीकृष्ण सो परस्पर विरुद्ध वचन कभी भी उपदेश न करैङ्गे इसी से कर्मो के त्याग करने के विषय मे जिस प्रकार से विरोध न पडे सोई जानने को इच्छा करि अर्ज्जुन कहते हैं कि हे हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के नियामक प्रवर्त्तक और हे केशिनिषूदन केशी नाम दैत्य व्रजलीला के समय अश्व रूप धर कैं आया तो भगवान उस के मुख मे अपना हाथ डाल ककरी के समान चीर डाल के डाल दिया था सोई कहा कि हे महावाहो श्रीकृष्ण संन्यास औ त्याग शब्द का तत्त्व अर्थ मै भिन्न भिन्न कर के जाना चहूं हौं सो दया कर के मुख से कहिये ॥ १ ॥ इस अर्ज्जुन की प्रश्न

पृथक्केशिनिसूदन ॥१॥ श्रीभगवानुवाच । काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्व कर्मफल त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥ त्याज्यं दोषवदित्येके कर्मप्राहुर्मनी·

भाषा अनुवाद

के उत्तर मे भगवान कहते हैं कि देखो पुत्र की कामना करि के पुत्रइष्टि यज्ञ करै और स्वर्ग की कामना करि अश्वमेध यज्ञ करै तथा और और कामना करि जो जो कर्म्म विहित हैं ऐसे जो काम्यकर्म तिन सब के परित्याग करने को ही पण्डित लोग संन्यास जानते हैं अर्थात् फल सहित सकल कर्म्म के त्याग को संन्यास ज्ञान करते हैं और जितने कर्म अकर्म कहे कुत्सित् कर्म औ नित्य नैमित्तिक कर्मों के फल मात्र त्याग को विचक्षण कहे निपुण लोग त्याग कहते हैं पर विचार से तो कर्म त्याग करने को तो त्याग नहीं कहते हैं फल त्याग वत् त्याग हो सके हैं क्यों कि वहुतेरे कर्म्म ऐसे हैं कि जिन का शरीर रहते त्याग नहीं हो सकता है तो शास्त्रोक्त कर्म नित्य नैमित्तिक उपासना आदि जिन से बुद्धि की शुद्धि औ ज्ञान की योग्यता होती उन का त्याग लोक विरुद्ध संसार अवस्था मे अनुचित है परन्तु जिस को तत्त्व ज्ञान नहीं भया है उस का कर्मफल के त्याग करने ही को त्याग जानो और जिस को तत्त्वज्ञान है उसी को समस्त कर्म का संन्यास हो सके है और उचित भी है यह भगवान ने अर्जुन से कहा ॥ २ ॥ मतान्तर कहे अन्य मत को निषेध करते हुये उक्त विषय को दृढ़ करने की इच्छा से मत भेद देखाते हैं कि हिंसादि कर्म दोषयुक्त औ अनर्थ हेतु से वन्ध स्वरूप हैं इस लिये सब कर्म्म का त्याग करना उचित यह सांख्य मतवाले विवेकी लोग माहिंस्यात्सर्व्वभूतादि इस वचन से कहते हैं और अग्नीषोमीयं पशुमालभेत् इस श्रुति से अग्निष्टोम यज्ञ मे पशुहिंसा को यज्ञक्रिया का अङ्ग विधान किया है और सकल कर्मों के करने मे जीवहिंसा ज्ञान अज्ञानपूर्वक होती है इस से कर्म मात्र का त्याग कहा है और कर्म्मकाण्डी मीमांसा मतवाले अग्नीषोमीयं पशुमालभेत् इस विधि केवल से कहते हैं कि यज्ञकर्म मे हिंसा अहिंसा नहीं है करनी ही चाहिये और यज्ञ छोड कर हिंसा करने से पुरुष को पाप होता है इस अभिप्राय पर भगवान कहते हैं कि कोई बुद्धिमान तो कहते कि दोषवत् कहे दोषयुक्त

षिण:। यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥३॥ निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरत सत्तम। त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः॥४॥ यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्। यज्ञदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥५॥ एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥६॥ नियतस्य तु संन्यास:

भाषा अनुवाद

कर्म त्याग करना चाहिये और कोई यज्ञ दान तप कर्म का त्याग नहीं कहते हैं क्यों कि विधिकृत हिंसा से दोष नहीं होता है परन्तु अहिंसा तो परम धर्म है॥३॥ इस प्रकार से अन्य मत कहि कर अब अपने मत कहने की इच्छा से भगवान कहते हैं कि हे भरतसत्तम भरतवंशी अर्जुन इस पूर्वोक्त परस्पर विरुद्ध मत के विषय मे निश्चयरूप जो मेरे वचन सो सुनो और त्याग की लोक मे प्रसिद्ध है तो उस के विषय मे और क्या सुनैगे ऐसा अनादर न करना यही कहते हैं कि हे पुरुष व्याघ्र कहे पुरुषश्रेष्ठ अर्ज्जुन त्याग पदार्थ बड़ा कठिन दुर्बोध हैं जिस हेतु इस काम्य कर्म का त्याग तत्त्वदर्शी लोगों ने अच्छीतरह से विचार कर के तामस आदि भेद से त्रिविध कहे तीन प्रकार का कहा है सो त्याग विषयक तीन प्रकार इसी अध्याय के इस सतयें श्लोक से कहेंगे कि नियतस्य तु संन्यासः इति॥४॥ अब प्रथम अपने निश्चित वचन को दो श्लोक से कहते हैं कि यज्ञ दान औ तप स्वरूप कर्म त्याग करने के योग नहीं हैं वरन अवश्य ही कर्त्तव्य हैं क्यों कि ये यज्ञ दान तप पूजन आदि सत् कर्म विवेकी पुरुषों को पावन करते हैं अर्थात् चित्त के शुद्धि करनेवाले हैं॥ ५॥ जिस प्रकार से किये गये हुयें ये कर्म विवेकी जनो के चित्त को शुद्ध करते हैं सोई प्रकारसे इन कर्मोका अनुष्ठान देखावते हुये कहते हैं कि हे पार्थ अर्ज्जुन सङ्ग कहे कर्तृत्वाभिनिवेश अर्थात् हम कर्त्ता इस कर्म को करते हैं इस अहङ्कार को छोड़ कर केवल ईश्वर के आधीन रूप से कर्म का अनुष्ठान करना उचित है और फल की कामना को भी त्याग कर के जो कर्म का करना है यही हमारा निश्चित अभिमत सिद्धान्त है इसी से वह कर्म उत्तम है यह भगवान ने अर्ज्जुन से कहा है॥६॥ अब इस श्लोक से देखावते हैं कि सकल काम्यकर्मो को बन्धकत्व है अर्थात् कामना करि किये हुये कर्म बन्धन करते हैं इस हेतु से उन का त्याग करना ही

कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः॥७॥ दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभया त्यजेत्। स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥८॥ कार्य्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। सङ्गं त्यक्त्वा फलञ्चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥ नद्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशलेनानुषज्जते। त्यागीसत्त्व समाविष्टो मेधावोच्छिन्न संशयः॥१०॥

भाषा अनुवाद

कर्त्तव्य हैं परन्तु नियत कहे नित्य कर्मों का त्याग करना योग्य नहीं है क्यों कि नित्यकर्म सत्वशुद्धि के द्वारा मोक्ष के साधनस्वरूप हैं इस से यद्यपि कर्म का परित्याग करना ठीक है तौ भी नित्य कर्म का त्याग मोह मात्र ही से होता अर्थात् तामस है क्यों कि मोह तमोगुण से होता है इस से उस त्याग को शिष्ट लोगों ने तामस ही कहा है॥७॥ राजस त्याग को कहते हैं कि जो मनुष्य आत्म ज्ञान के विना केवल कर्म करना दुख मात्र है यह विचारि के और शरीर के क्लेश के भय से नित्यकर्म को त्याग करता है सो त्याग राजस है क्यों कि दुख रजोगुण का धर्म है इसी से राजस त्यागकारी रजोगुणी पुरुष को ज्ञान मे निष्ठा जो त्याग का फल सो कभूं भी नही मिलै है॥८॥ अब सात्त्विकरूप त्याग कहते हैं कि हे अर्जुन कर्म सब कर्त्तव्य हैं ऐसे विचार से नियत कहे अवश्य कर्त्तव्य रूप विहित कर्मों को कर्तत्व अभिनिवेश कहे अहं बुद्धि औ फल की कामना रहित जो त्याग करना सो सात्विक त्याग है॥ ९ ॥ एवम्भूत सात्त्विक त्याग मे प्रकृष्ट निष्ठायुक्त पुरुष के लक्षण कहते हैं कि सतोगुण से सात्त्विकत्यागी पुरुष अकुशल कहे दुःखदायी अर्थात् शिशिर कहे जाडे मे प्रातःस्नान आदि कर्म से द्वेष नहीं करते और कुशल कहे ग्रीष्म काल के मध्याह्न स्नान दानादि कर्म्म मे प्रीति नहीं रखते हैं इस का कारण यह है कि वे लोग स्थिर बुद्धि अर्थात् विवेक से अन्य कृत पराभव अनादर आदि महा दुःख भी सहते हैं और स्वर्गादि सुख को भी त्याग करते हैं फेरि सुख औ दुःख जो क्षणिक कहे क्षण मात्र रहनेवाला है यह निश्चय जानते हैं औ जिस का दैहिक सुख दुःख के ग्रहण औ त्याग की इच्छा रूप जो मिथ्या ज्ञान सो जिस का नष्ट हो गया है वही छिन्न संशय पुरुष है॥ १० ॥ जो कहो कि पूर्वोक्त कर्मों के फल त्याग से कर्मो हीं का त्याग करना हीं श्रेष्ठ क्यों

नहिदेहभृताशक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी सत्यागीत्यभिधीयते ॥११॥
अनिष्टमिष्टंमिश्रञ्चत्रिविधंकर्मणःफलम्। भवत्यत्यागिनांप्रेत्यनतुसंन्यासिनांक्वचित् ॥१२॥
पञ्चैमानिमहाबाहोकारणानिनिबोधमे। सांख्येकृतान्तेप्रोक्तानिसिद्धयेसर्वकर्मणाम् ॥१३॥

भाषा अनुवाद

न होय जिस हेतु विक्षेपकरनेवाले कर्म दूर होने से अविक्षेप क्रम से ज्ञाननिष्ठा रूप जो सुख सो सम्पन्न होयगा इस पर कहते हैं कि देह अभिमानयुक्त मनुष्य तावत सर्व कर्मों का सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं इस मे प्रमाण तीसरे अध्याय के पञ्चवें श्लोक आदि से कहा है कि न कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् इति इस से जो सकल कर्म का अनुष्ठान कर के भी फल मे त्यागी हैं वेई पुरुष प्रधान त्यागी हैं ॥ ११ ॥ अब पूर्वोक्त त्याग का फल कहते हैं कि अनिष्ट कहे नरक औ इष्ट कहे देवत्व तथा मिश्र कहे मनुष्यत्व येई पाप पुण्य मिले हुये कर्मों के फल हैं सो काम्यकर्म करनेवालों को देहान्त होने पर प्राप्त होते हैं क्यों कि सकाम मनुष्यों को पाप पुण्य औ दोनों से मिले हुये त्रिविध कर्म सम्भव होते है परन्तु ये कर्म संन्यासी पुरुष को किसी तरह सम्भव नहीं होते और सन्न्यासी इस प्रसङ्ग मे कर्मफल का त्यागी ही लिया जाता है यहां प्रमाण सुनो कि अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः स सन्न्यासी च योगी च इति ६ अध्याय के प्रथम श्लोक मे ले कर कहा है और कर्मफल त्यागी सब पुरुष को सब जगह संन्यासी कहा है इस से इह फल त्यागी सात्त्विक मनुष्य को पाप के असम्भव हेतु से और भगवत को अर्पण करने से पुण्यफल के भी त्याग होने से त्रिविध जो कर्मफल वे किसी प्रकार से भी नहीं होते हैं ॥ १२ ॥ जो कहो कि कर्मी पुरुष को कर्मफल क्यों न होयङ्गे इस शङ्का पर सङ्ग त्यागी विद्वान मनुष्य को जो कर्मबन्ध नहीं होते यह सिद्ध करने की इच्छा से यहां से पांच श्लोक के द्वारा कहते हैं कि हे महाबाहो कर्मों की निष्पत्ति मे ये पांच कारण मेरे वचन से तुम जानो और अपने कर्तृत्वरूप अभिमान की निवृत्ति के अर्थ इन कारणों को अवश्य ही जानना चाहिये कि इस प्रकार पर-मात्मा सम्यक् रूप से प्रसिद्ध अर्थात् ज्ञान का विषय होता है इस अर्थ का सूचना करनेवाला जो सांख्य भावार्थ यह कि तत्त्वज्ञान मे प्रकाशमान आत्मबोध ही को

अधिष्ठानंतथाकर्त्ताकरणञ्चपृथग्विधम् । विविधाश्चपृथक्चेष्टादैवञ्चैवात्रपञ्चमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्मप्रारभतेनरः । न्याय्यंवा विपरीतंवापञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥
तत्रैवं सतिकर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दूर्मति ॥१६॥

भाषा अनुवाद

सांख्य कहते हैं और ऐसे कर्मों का अन्त कहे समाप्ति इसी मे है इस अर्थ का सूचक जो कृतान्त अर्थात् सांख्य कृतान्त कहे वेदान्त सिद्धान्त मे अथवा इस मे सब तत्त्व गने गये हैं इस अर्थ का सूचक सांख्य और इस तरह से क्रिया है अन्त अर्थात् सकल निर्णय है इस मे अर्थ का सूचक जो कृतान्त पद इन दोनो पदार्थ को सांख्य कहते हैं सोई सांख्य ने ये पांचो कारण अच्छी प्रकार से कहा है इस से तुम इस को सम्यक् प्रकार से जानो ॥१३॥ सोई सर्व्व कर्म्म सम्पत्ति के विषय मे कारण कहते हैं कि अधिष्ठान कहे शरीर औ कर्त्ता कहे चित औ जड़ की ग्रन्थि रूप अहङ्कार और भिन्न भिन्न अनेक प्रकार करण स्वरूप चक्षु आदि इन्द्रिय और विविध कहे कार्य्य से या स्वरूप से भिन्न भिन्न चेष्टा अर्थात् प्राण अपान आदि वायु के व्यापार समूह और अत्र कहे अधिष्ठान शरीर आदि सब के मध्य मे पञ्चम स्वरूप दैव अन्तर्यामी सर्व्वनियन्ता अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुकूलकारी सूर्य्य आदि देवता जानो इहां चित्त का अर्थ ज्ञान है ॥१४॥ इन्ही पांचों को सर्व्व कर्म्म मे कारणत्व कहते हैं कि इन्ही पांचों के कारण से आरम्भ किये जाते जो कर्म्म सकल तिन को शरीरादि मे अन्तर्गत कहे मानि के इस श्लोक मे कहा है कि जिस हेतु कर्म्म मात्र जो शारीरिक औ वाचनिक तथा मानसिक होते हैं यह प्रसिद्ध है औ श्लोक का अर्थ यह है कि शरीर वचन औ मन के द्वारा सब मनुष्य जो कोई धर्म या अधर्म करते हैं सोई सकल कर्म्म के कारण हैं येई अधिष्ठान कहे शरीर आदि पांच कर्मों के हेतु हैं ॥१५॥ तो इस से फेरि क्या होता है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि उन कर्मों के हेतु जो अधिष्ठानादि पांच मात्र है और कोई हेतु नहीं हैं सो होने से भी शास्त्र औ आचार्य्य के उपदेश से नहीं शोधी गई बुद्धि इस कारण से जो दुर्म्मति मनुष्य उपाधि रहित असङ्ग रूप आत्मा को कर्त्ता रूप देखते हैं इस से ये दुर्मति मनुष्य

यस्यनाहंकृतोभावोबुद्धिर्यस्यनलिप्यते। हत्वापिसइमांल्लोकान्नहन्तिननिबध्यते ॥१७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधाकर्मचोदना। करणं कर्मकर्त्तेति त्रिविधकर्मसंग्रहः ॥१८॥

भाषा अनुवाद

सम्यक्दर्शी नहीं हैं ॥ १६ ॥ जिस को कर्मलेप नहीं है ऐसा सुमति कौन है इस अपेक्षा से कहते हैं कि मैने यह कर्म किया और मै कर्त्ता हूं ऐसी वासना जिसके नहीं है अथवा शरीर औ इन्द्री मात्र को कर्तृत्व देखने से अहङ्कार स्वभाव रूप कर्तृत्व का भी लेश जिस को नहीं हैं इस हेतु से जिस की बुद्धि इष्ट अनिष्ट विचार से सकल कर्म मे आसक्त नहीं होती है ऐसा जो देहादि से भिन्न रूप आत्मादर्शी पुरुष प्राणियों को लोक दृष्टि से हनन कर के भी सब मे अभिन्न रूप आत्मदृष्टि हेतु से किसी का भी हनन नहीं करता है और कर्मफल से बन्ध को नहीं पावता है सत्त्वशुद्धि के द्वारा अपरोक्ष कहे प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हेतु से निष्काम कर्म के द्वारा उस को बन्धन की शङ्का और बाकी क्या है यह ५ अध्याय के १० श्लोक मे कह चुके हैं कि जो कर्म फल की आसक्ति छोड़ भगवदर्पण पूर्वक कर्म का अनुष्ठान करते हैं ते मनुष्य जल के बीच मे वर्त्तमान पद्मपत्र के समान पुण्य पाप समस्त कर्म से अलग रहते लिप्त नहीं होते हैं ॥ १७ ॥ कर्म मे अभिनिवेश जो इच्छा औ आसक्ति कहे तनमन लगेसे रहना इन दोनो से रहित पुरुष हनन कर के भी हनन नहीं करते औ बन्धन को प्राप्त होते इस पूर्व्वोक्त वाक्य मात्र के कहने के लिये कर्म की विधि है औ कर्म श्रेय कहे कल्याण कर है और कर्मफल आदि सब को त्रिगुणात्मकत्व हेतु से गुणातीत जो आत्मा तिस को इस कर्म विधि आदि के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है इस कहने की अभिप्राय से कर्म विधि औ कर्म श्रेय कहते हैं कि ज्ञान कहे यही इष्ट का साधन है ऐसा जो बोध औ ज्ञेय कहे इष्ट के साधन स्वरूप जो कर्म और परिज्ञाता कहे ऐसे ज्ञान का आश्रय भूत जो मनुष्य यही त्रिविध कर्म विधि कहे प्रेरणा है अर्थात् इसी प्रेरणा से लोग कर्म मे प्रवृत्त होते हैं श्लोकार्थ यह है कि कर्मविषयक जो विधि सो उक्त रूप त्रिगुणात्मक ज्ञान आदि को अवलम्बन कर के प्रवृत्त होती है यह दूसरे अध्याय के ४५ श्लोक मे कहा हैं कि

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः। प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥ सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्ष्यते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २०॥ पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥ यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्य्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थं वदल्पञ्च तत्ता-

भाषा अनुवाद

हे अर्ज्जुन त्रिगुणात्मक सकाम अधिकारी के सम्बन्ध से फल सम्बन्ध वेद मे कहा है और करण कहे साधन औ कर्म कहे कर्त्ता की अत्यन्त इच्छा की अधिक ईसे किया जाय जो व्यापार और कर्त्ता कहे क्रियाका करने हारा और सब कर्म सम्पूर्ण रूप से इसी मे गृहीत होते है इस अर्थ के सूचन करनेवाले पद को कर्म संग्रह कहते हैं करण कर्म कर्त्तारूप तीन कारक ये क्रिया के आश्रय हैं और सम्प्रदान अपादान औ अधिकरण ये तीन केवल परस्पर आक्रमण से क्रिया के प्रवर्त्तक हैं साक्षात् क्रिया के आश्रय स्वरूप नहीं हैं इसी से पूर्व्वोक्त तीन करणो को क्रिया के आश्रय स्वरूप कहा हैं ॥१८॥ अब क्रिया कारक औ फल को गुणात्मता से सत्त्व रज तम कृत त्रिविध भेद कहा चाहते हैं इस अपेक्षा पर कहते हैं कि ईसी मे गुण कार्य्य भेद से सम्पूर्ण प्रतिपादन कर के कहते हैं इस अर्थ का सूचन करनेवाला संख्या न कहे सांख्यशास्त्र तिस मे सात्त्विक आदि गुण भेद क्रम से तथा कार्य्य के द्वारा ज्ञान औ कर्म तथा कर्त्ता ये प्रत्येक त्रिविध स्वरूप कहे गये हैं सोई मै यथावत् कहता हूं तिन को भी तुम श्रवण करो ॥ १९ ॥ इस श्लोक से ले कर तीन श्लोक से इस ज्ञान का सात्त्विक आदि भेद से तीन प्रकार कहते हैं कि ब्रह्मादि स्थावर पर्य्यन्त परस्पर भिन्न भिन्न सकल वस्तु मे प्राप्त एक निर्व्विकार स्वरूप अव्यय परमात्मतत्त्व का जिस ज्ञान से आलोचन किया जाय उस ज्ञान को सात्त्विक ज्ञान तुम जानो ॥२०॥ इस श्लोक मे राजस ज्ञान कहते हैं कि भूत कहे देहधारी मात्र मे नाना भाव अर्थात् सब की शरीर मे क्षेत्रज्ञ आत्मा पृथक् पृथक् सुखी दुखी रूप से भिन्न भिन्न भी जाना जाय जिस ज्ञान से सो ज्ञान राजस जानो ॥२१॥ तामस ज्ञान कहते हैं कि एक कार्य्य मे अर्थात् स्थूल शरीर मे अथवा प्रतिमा आदि मे सक्त कहे शरीर ही आत्मा औ प्रतिमा ही ईश्वर है

मसमुदाहृतम ॥ २२ ॥ नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥ यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः । क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥ अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् । मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥ मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः । सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥ रागीकर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसा

भाषा अनुवाद

ऐसे निश्चय से युक्त और अहेतुक कहे युक्तिविरुद्ध औ परमार्थ अवलम्बन रहित जो ज्ञान उक्त कारणों से अल्प विषय अल्प फल हेतु से तुच्छ है उस ज्ञान को शिष्टजनो ने तामसरूप निरूपण किया है ॥ २२ ॥ अब इस श्लोक से ले तीन श्लोक के द्वारा सकल कर्म्म को त्रिविध कहते हैं कि फल प्राप्ति की इच्छा कहते हैं ऐसे जो फल के लोभी जनो से किये जाते हैं उन से भिन्न रूप निष्काम कर्म के अनुष्ठान करनेवालों से नियत कहे नित्यरूप से विहित औ अभिनिवेश आसक्ति शून्य जो कर्म किये जाय और जो पुत्र आदि के प्रीत्यर्थ अथवा शत्रु पर क्रोध क्रम से किये न होंय ऐसे कर्म सात्त्विक हैं ॥ २३ ॥ और कर्म्मफल प्राप्ति का इच्छुक अथवा अहङ्कारी कहे जो अपने समान और को नही मानता है ऐसे अहङ्कारयुक्त मनुष्य से किये गये अथवा जो कर्म अति क्लेशयुक्त होंय उन्ही को शिष्टजन राजस स्वरूप कहते हैं ॥२४॥ अब तामस कर्म कहते हैं कि पश्चात् बन्ध करैं ऐसे अनुबन्ध कहे पश्चात् भावी शुभ अशुभ और धन व्यय तथा अपनी सामर्थ्य न विचारि के केवल मोह से जो कर्म आरम्भ किये जाय वेई तामस कर्म हैं ॥२५॥ इस श्लोक से ले तीन श्लोक से कर्मकर्त्ता सब को त्रिविध कर के कहते हैं कि कर्म अनुष्ठाई पुरुष कर्तृत्व अभिनिवेश बुद्धि रहित और गर्ववचन रहित औ धैर्य्य उत्साह जो उद्यम इन दोनो के द्वारा युक्त समस्त कर्म मे सिद्धि असिद्धि की अपेक्षा हर्ष विषाद शून्य होय ऐसे कर्त्ता पुरुषों को सात्त्विक स्वभाव कहते हैं ॥ २६ ॥ और पुत्र आदि से स्नेहयुक्त औ कर्मफल का कामी और परधन का अभिलाषी औ निर्दय स्वभाव औ शौच रहित औ हानि लाभ से शोक हर्षयुक्त कर्मकारी मनुष्य राजस स्वरूप कहे रजो

त्मकोऽशुचिः । हर्ष शोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥ २७ ॥ अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः । विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥ बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु । प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥ प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये । बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा ता सात्त्विकी ॥३०॥ यया धर्ममधर्मञ्च कार्य्यञ्चाकार्य्यमेव च । अयथावत् प्रजानातिबुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥ अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता । सर्व्वार्थान् वैपरीतांश्च

भाषा अनुवाद

गुणी है ॥२७॥ और अयुक्त कहे असावधान और प्राकृत कहे विवेक रहित औ स्तब्ध अनम्र स्वभाव औ शठ कर्म्मचोर औ नैष्कृतिक कहे पर का अपमान करनेवाला तथा आलसी औ विषाद या सदा शोगी औ दीर्घसूत्री कहे जो कर्म तुर्त करने का होय उसे महीनो तक टाले ऐसे मनुष्य तामस कर्त्ता कहावते हैं ऐसे ही कर्त्ता की त्रैविध्य से ज्ञाता भी तीन प्रकार के हैं और कर्म की त्रैविध्य से ज्ञेय मात्र को त्रैविध्य कहा औ बुद्धि त्रिविध कहने से कारण भी तीन प्रकार के हैं ॥२८॥ अब बुद्धि औ धृति कहे धैर्य्य की त्रैविध्य कहने की प्रतिज्ञा करते हैं कि हे धनञ्जय अर्ज्जुन बुद्धि के औ धैर्य्य के सत्व आदि गुण क्रम से तीन भेद जो हैं उन को मै भिन्न भिन्न कहता हूं तुम सावधान होय सुनो ॥२९॥ अब इस श्लोक से ले तीन श्लोक से बुद्धि की त्रैविध्य कहते हैं कि धर्म मे प्रवृत्ति औ अधर्म से निवृत्ति औ देश काल के अनुसार जो कर्त्तव्य औ अकर्त्तव्य कर्म औ काज अकाज जानि अर्थ अनर्थ ज्ञान तथा बन्ध ही कैसे औ मोक्ष ही वा कैसे होती इस विचार से भय अभय ये सब बुद्धि कहे अन्तःकरण जानि सकै हैं ऐसी बुद्धि सात्विकी है इस जगह बुद्धि के द्वारा पुरुष सब जाता है यह कहने को थे पर वह रीति छोड़ इसी तरह पर कहा कारण को कर्त्ता कर के कहा है ॥३०॥ और हे पार्थ अर्ज्जुन जिस बुद्धि से धर्म अधर्म औ काज अकाज अयथावत् कहे ठीक ठीक न जाना जाय जिस से सो बुद्धि राजसी है ॥३१॥ और तमोगुण से आवृत कहे घेरी जो बुद्धि अधर्म को भी जानि धर्म के सकल विषय को विपरीत कहे उलटा जानै ऐसी विपरीत ग्रहण करनेवाली बुद्धि तामसी है यहां भी करणता बुद्धि को उचित थी पर कर्त्तारूप से कहा है

बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥ धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रिय क्रियाः । योगेना-
व्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयते-
ऽर्जुन । प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥ यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं
मदमेव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसीमता ॥३५॥ सुखं त्विदानीं त्रिविधं
शृणु मे भरतर्षभ । अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति ॥ ३६॥ तदग्रे विषमिव
परिणामेऽमृतोपमम् । तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम् ॥ ३७ ॥ विषये

भाषा अनुवाद

अथवा धर्मरूप अन्तःकरण की वृत्ति बुद्धि औ निश्चय तथा इच्छा द्वेष आदि रूप अन्तःकरण की धृति बहुत रहते भी धर्म अधर्म औ भय अभय की साधनरूप बुद्धि को प्रधान किया है और सब उपलक्षण रूप से त्रिविध कहे गये हैं ॥३२॥ अब इस श्लोक को अवधि कर तीन श्लोक से धृति को त्रैविध्य कहते हैं कि हे अर्जुन योग कहे चित्त की एकाग्रता से और और विषय का धारण न कर के जो धैर्य्य से मन औ प्राण तथा सब इन्द्रियों की सकल क्रिया की जाईं जायं वही धृति सतोगुणी है ॥३३॥ अब राजसी धृति कहते हैं कि हे अर्जुन तिस से भिन्न जो धृति कि जिस से धर्म अर्थ औ काम सब श्रेष्ठरूप से धारण किये जाय परित्यक्त न होंय और उन के सङ्गम से धर्मादि के फल की आकाङ्क्षी भी होय ऐसी धृति का नाम राजसी है ॥३४॥ अब तामसी धृति कहते हैं कि हे अर्जुन जिस मनुष्य की दुर्मेधा कहे अविवेकिनी नीच बुद्धि है और वह दुर्बुद्धि मनुष्य जिस धृति कहे धैर्य्य से निद्रा औ भय शोक तथा विषाद कहे दुख औ मद इन को नहीं छोड़ता है वह धृति तामसी है ॥३५॥ अब सुख भी तीन प्रकार का है यह प्रतिज्ञा आधे श्लोक से कहते हैं कि हे भरतवंशी अर्ज्जुन अब त्रिविध सुख भी हम से सुनो कि जो पुरुष नित्य अभ्यास के हेतु से सुखभोग करता है और विषयी लोगों के समान विषय वासना से अति हठ धर कर के सुखभोग नहीं करता औ प्रीति को नहीं प्राप्त होता है ऐसा जो सुखभोगी पुरुष सो हठात् दुख के अन्त को प्राप्त होता अर्थात् सुख से छूट जाता है ॥३६॥ और वह सुख कैसा है इस पर कहते हैं कि जो सुख अग्रे कहे प्रथम विष के तुल्य है औ अन्त को अमृत समान होता है वह सुख सात्त्विक है और

न्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रेचानुबन्धेच सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥
नतदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृति जैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः
॥४०॥ ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणाञ्च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवै-

भाषा अनुवाद

आत्मा तथा बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न है अर्थात् मलरूप रजोगुण तिन को तमोगुण सतोगुण दूर करै है तब वह सुख प्रगटै है ॥३७॥ अब राजस सुख कहते हैं कि विषय वासना सहित इन्द्रियों के संयोग से जो प्रिय सङ्गम आदि सुख होता है और पहले तो अमृत तुल्य लगता है औ अन्त को दुखदाई हेतु से विष समान होता सोई सुख राजस ॥ ३८ ॥ तामस सुख कहते हैं कि अग्रे कहे पहिले और अनुबन्ध कहे पीछे भी जो सुख मोहकारी विशेष से निद्रा औ आलस्य तथा प्रमाद कहे चित्त की असावधानी औ मन की जड़ता से जो सुख होय है सोई तामस सुख है ॥३९॥ अब जो पूर्व्व अध्यायों में कहीं नहीं कहा सो इस श्लोक से ले तीन श्लोक से कहते हैं कि इन सतोगुण आदि प्रकृति के गुणों से मुक्त अर्थात् छूटा हुआ सत्व आदि कहे प्राणीमात्र नहीं है अथवा और कोई वस्तु क्या पृथिवी में मनुष्य आदि क्या स्वर्ग में देवता आदि में भी कोई नहीं है ॥४०॥ जो समस्त क्रिया औ कारक कहे क्रियों के साधन तथा फल आदि औ प्राणी मात्र सब भी त्रिगुणात्मक कहे त्रिगुणमय भये हैं तो इन लोगों की मुक्ति कैसे घटै कहे होय सकै है इस शङ्का निवारण के अर्थ अपने अपने अधिकार अनुसार कर्म अनुष्ठान के द्वारा भगवत आराधन से भई हुई भगवत की कृपा प्राप्ति से प्रगट जो तत्त्वज्ञान तिस के द्वारा ही जो मुक्ति होयगी यह जो सब गीता का सार संग्रह है सो देखावने का मानस कर के इस श्लोक से ले अध्याय समाप्ति पर्य्यन्त प्रकारान्तर कहे दूसरी रीत कहने का आरम्भ करते हैं कि हे परन्तप शत्रुनाशक अर्जुन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य औ शूद्र इन के कर्म प्रविभक्त कहे प्रकृष्ट रूप से भिन्न भिन्न विहित हैं और द्विज पद से शास्त्र में ब्राह्मण आदि तीन वर्ण कहे जाते हैं इस से शूद्र को अलग कर के कहा है सोई लक्षण कहते हैं कि स्वभाव कहे सतोगुण

गुणैः ॥४१॥ शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥ शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्य पलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥ कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । परिचर्य्या-

भाषा अनुवाद

आदि जिन से सब का प्रभव कहे उत्पत्ति है उन्ही के अनुसार ब्राह्मण आदि के कर्म पृथक पृथक् विहित हैं अथवा स्वभाव कहे पूर्व जन्म का संस्कार उस के अनुसार जो ब्राह्मण आदि की गुण क्रम से कर्मों मे प्रवृत्ति है विशेष यह कि ब्राह्मण सतोगुण प्रधान है औ क्षत्रिय कुछ सतोगुण सहित रजोगुण प्रधान है और वैश्य कुछ सतोगुण तमोगुण ले कर रजोगुण प्रधान है और शूद्र कुछ रजोगुण युक्त तमोगुण प्रधान है यह जानो ॥ ४१ ॥ तो वे स्वाभाविक कौन कर्म्म हैं सोई कहते हैं कि शम कहे चित्त की शान्ति औ दम कहे बाह्य इन्द्रियों की शान्ति औ तप जो १७ अध्याय के १४ श्लोक मे शरीर की तपस्या कहा है तथा शौच अर्थात् बाहर भीतर की शुचि औ शान्ति कहे क्षमा आर्जव कहे सीधापन औ ज्ञान कहे शास्त्र के अर्थ का बोध और विज्ञान कहे अनुभव तथा आस्तिक्य कहे परलोक है ऐसी निश्चय रूप बुद्धि ये सब ब्राह्मणों के स्वभाव सिद्ध कर्म्म हैं सो जानो ॥ ४२ ॥ अब क्षत्रिय के स्वभावज जो कर्म उन को कहते हैं कि शौर्य्य कहे पराक्रम औ तेज कहे ढीठापन धृति कहे धैर्य्य औ दाक्ष्य कहे निपुणता और संग्राम आन पड़ने से पीठि दे न भागना तथा दान कहे उदारता औ ईश्वर भाव अर्थात् विषय सम्बन्धी नियम आदि करने की शक्ति ये सब क्षत्रियों के स्वभाव ही से उत्पन्न कर्म्म हैं ॥ ४३ ॥ अब वैश्य के स्वभावज कहे स्वभाव सिद्ध कर्म्म कहते हैं कि कृषी कहे खेती औ गोरक्षा सो दो प्रकार की है एक तो गउ का रक्षण दूसरा अपने आश्रित का पालन करना औ वाणिज्य व्यापार खरीदना बेचना तथा ब्राह्मण देवता मे श्रद्धा रखना ये सब वैश्यवंश के स्वाभाविक कर्म्म हैं अब शूद्र का कर्म सुनो कि इन तीनो वर्ण की सेवारूप व्यापार शूद्र का स्वभावज कर्म्म है शूद्र को सेवा छोड़ और कर्म नहीं है ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण आदि वर्णों के इन सब कर्मों को ज्ञान का हेतुत्व कहते हैं कि अपने अपने अधिकार

त्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥ स्वेस्वेकर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्व-
कर्मनिरतःसिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥ यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येनसर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणातमभ्यर्च्यसिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥ श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनु-
ष्ठितात्। स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥ सहजं कर्म कौन्तेय

भाषा अनुवाद

के अनुसार विहित कर्म मे निरत कहे निष्ठा से लगे हुये मनुष्य संसिद्ध कहे ज्ञान की योग्यता लाभ करते हैं और कर्म के द्वारा ज्ञान प्राप्ति की प्रकार इस श्लोक के आधे से ले डेढ़ श्लोक से कहते हैं कि अपने कर्म मे सब तरह निष्ठायुक्त पुरुष जिस प्रकार से तत्त्वज्ञान लाभ करते हैं सो प्रकार तुम श्रवण करो ॥४५॥ अब कर्म से ज्ञान प्राप्ति प्रकार कहते हैं कि अन्तर्यामी रूप जो परमेश्वर कि जिस से प्राणी मात्र चेष्टा करते है और कारण स्वरूप जो ईश्वर कि जिस ईश्वर से यह समस्त जगत् व्याप्त है उस ईश्वर को समस्त धर्म के द्वारा अभ्यर्च्य कहे पूजन कर के मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञान की योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ ४६ ॥ और पूर्व श्लोक मे कहा जो स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य उसी स्वकर्म विशेषण वचन का फल कहते हैं कि स्वानुष्ठित कहे अच्छी तरह से किये हुये पराये के धर्म की अपेक्षा से स्वधर्म कहे अपना धर्म विगुण अर्थात् अङ्गहीन भी श्रेय कहे अति उत्तम है इस हेतु बन्धुबध आदि से युक्त भी क्षत्री का धर्म जो युद्ध तिस से भिक्षाटन स्वरूप पर धर्म श्रेष्ठ नहीं है और पूर्व्वोक्त स्वभाव क्रम से नियत कहे नियम स्वरूप शास्त्रोक्त स्वधर्म का अनुष्ठान वर्त्तां हुआ कोई भी पुरुष किल्बिष जो पाप तिस को नहीं प्राप्त होता है सो अर्जुन तुम किस विचार के बखेडे मे पडे हो अपने काम को देखो इस चिन्ता से कुछ फल नहीं है ॥४७॥ परन्तु स्वधर्म मे जो सांख्य मत के अनुसार हिंसा को दोष रूप जानि के और अहिंसा हेतु से परधर्म श्रेष्ठ जो विचार करो तो परधर्म के आचरण मे भी दोष है इस अभिप्राय पर कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्जुन मनुष्यों को सहज कहे स्वभावसिद्ध औ शास्त्रविहित जो स्वधर्म सो दोषयुक्त होने से भी त्याग करने योग्य नहीं हैं क्यों कि समस्त आरम्भ अर्थात् दृष्ट अदृष्ट कर्म मात्र दोषयुक्त हैं तो

सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमे नाग्निरिवावृताः ॥४८॥ असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥ सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे। समासेनैव कौन्तेय निष्ठाज्ञानस्य यापरा ॥५०॥ बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादिन् विषयां स्त्यक्त्वा राग द्वेषौ

भाषा अनुवाद

जैसे स्वाभाविक धूम से आवृत अग्नि को दोषयुक्त रहते भी लोग धूम रूप दोष परित्याग कर के केवल अन्धकार औ शीत वारण के अर्थ सेवन करते हैं तैसे ही स्वकर्म भी दोष अंश को छोड़ के गुण अंश मात्र सत्त्व बुद्धि के अर्थ सेवन करने योग्य है सोई कहा कि हे अर्जुन सहज कहे स्वाभाविक दोषयुक्त भी अपना कर्म छोड़ना न चाहिये क्यों कि सब आरम्भ कहे कर्म सदोष हैं जैसे धूम दोष से युक्त अग्नि को कौन छोड़ देय है ॥४८॥ जो कहो कि दोष अंश छोड़ि के गुण मात्र ही ग्रहण करि के कर्म किस प्रकार किये जाय सकैहैं इस अपेक्षा पर कहते हैं कि जिन की बुद्धि असङ्ग कहे आसक्ति रहित है और जितात्मा अर्थात् जो निरहङ्कार है और जिन की इच्छा कर्म के फल से दूर हो गई है ऐसे पुरुष सङ्ग जो आसक्ति औ फल इन दोनो को भी छोड़ कर इस अध्याय के नवम स्नोक में कहे अनुसार आसक्ति औ फल त्यागरूप संन्यास के द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि कहे सर्व कर्म निवृत्तिरूप जो सत्वशुद्धि सो पावते हैं ॥४९॥ पूर्वोक्त ऐसे परमहंस पुरुष को ज्ञाननिष्ठा के क्रम से ब्रह्मभाव की प्राप्ति का प्रकार इस स्नोक से ले साठ के स्नोक तक कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्ज्जुन नैष्कर्म्य सिद्धि को पाय कर के ज्ञान विषयक प्रकृष्ट निष्ठा से जैसे पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं सो प्रकार संक्षेप से श्रवण करो अर्थात् ज्ञान की जो श्रेष्ठ निष्ठा है सो सुनो ॥५०॥ सोई कहते हैं कि उक्त प्रकार क्रम से पूर्वोक्त विशुद्ध स्वरूप सात्त्विक बुद्धियुक्त पुरुष सात्त्विकी धृति से आत्मा कहे इस बुद्धि को नियम्य कहे निश्चय कर के शब्द आदि सर्व विषय का त्याग करने के अनन्तर और विषय प्रयुक्त राग द्वेष को भी दूर कर के ब्रह्म भाव को प्राप्त होते हैं इस स्नोक से ले तीन स्नोक का अर्थ एकसाथ होता है ॥५२॥ विविक्त सेवी कहे पवित्र देशवासी और लघ्वासी कहे परिमित आहारकारी होय

व्युदस्य च ॥५१॥ विविक्तसेवीलघ्वाशीयत वाक्काय मानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥ अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥ भक्त्यामामभिजानाति यावान् य श्चास्मि तत्त्वतः। ततोमांतत्त्वतोज्ञात्वाविशतेतदनन्तरम् ॥५५॥ सर्वकर्माण्यपिसदा कुर्वाणोमद्व्यपाश्रयः।

भाषा अनुवाद

और इन उपायों से यत वाक् काय मानस अर्थात् वचन देह और मन को वश कर के सदा ध्यान क्रम से जो योग कहे अविद्या अज्ञान निवृत्तिरूप ब्रह्म साक्षात्कार तिस मे तत्पर होय अपने ध्यान के अविच्छेद के लिये सम्पूर्ण रूप से बार बार दृढ़ वैराग्य का आश्रय ले कर ॥५२॥ और अहङ्कार औ बल कहे निन्द्यवस्तु की इच्छा औ दर्प कहे योगबल से आकाश गमनरूप आदि माया मे प्रवृत्ति और प्रारब्धवशते अप्राप्य वस्तु मे जो काम क्रोध का रोकना और अदृष्टवशते हठात् प्राप्त वस्तु मे भी ममता रहित होके शान्ति को प्राप्त पुरुष ब्रह्म के साथ समता अर्थात् अहं ब्रह्म ऐसा अचलरूप अवस्थान करने के योग्य हैं ॥५३॥ अहं ब्रह्म ऐसो निश्चयरूप अवस्थिति का फल कहते हैं कि ब्रह्मभूत कहे ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रसन्न चित्त पुरुष देह आदि मे अभिमान के अभाव से नष्ट जो संसारी विषय तिन का शोच नहीं करते हैं अप्राप्त विषय की भी आकाङ्क्षा नहीं करते इसो से राग द्वेषादिकृत विक्षेप के अभाव से भूत मात्र मे समभावयुक्त होने के अनन्तर सकल प्राणियों से मद्भावरूप जो मेरी उत्तम भक्ति तिस को प्राप्त होते हैं ॥५४॥ तिस के अनन्तर बड़ी उत्तम भक्ति के द्वारा हम को यथार्थ रूप से जानते हैं और मै कैसा हूं इस अपेक्षा पर कहते हैं कि जिस रूप से हम सर्वव्यापी औ घनचिदानन्द स्वरूप हैं तैसा हम को जानते हैं और तिस के अनन्तर हम को ऐसे यथार्थरूप से जानि कै फेर उस ज्ञान के उपर कहे शान्त होने पर हमारे ही मे प्रवेश करते अर्थात् परमानन्दस्वरूप होते हैं ॥ ५५ ॥ अपने अधिकार के अनुसार कर्म के क्रम से भगवत को आराधना हेतु से कहा जो मुक्ति का प्रकार सो कहते हैं कि नित्य औ नैमित्तिक पूर्व कहे हुये सर्व कर्म का निरन्तर अनुष्ठानकारी और मत् व्यपाश्रय कहे जिस

मत्प्रसादादवाप्नोतिशाश्वतंपदमव्ययम्॥५६॥ चेतसा सर्वकर्माणिमयिसंन्यस्यमत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्यमच्चित्तःसततंभव॥५७॥ मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥ यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति
मन्यसे। मिथ्यैव व्यवसाय स्ते प्रकृति स्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥ स्वभावजेन कौन्तेय

भाषा अनुवाद

के मै हीं आश्रयणीय हों और स्वर्ग आदि फल आश्रयणीय नहीं है ऐसे पुरुष मेरी अनुग्रह से सास्वत अर्थात् अनादि औ अव्यय कहे नित्य जो सब श्रेष्ठ ब्रह्म-पद तिस को प्राप्त होते हैं॥५६॥ जिस हेतु नित्य आदि कर्म के अनुष्ठान से ब्रह्म प्राप्ति होती है इस से सर्व्व कर्म बुद्धि के द्वारा हम को समर्पण कर के मत्पर कहे मैहीं हों परम प्रार्थनीय प्राप्य परम पुरुषार्थ सर्वस्वरूप जिस के अथवा व्यवसाया-त्मिका बुद्धि के कर्मयोग को आश्रय कर के सतत कहे कर्म अनुष्ठान काल से भी मद्गत चित्त पुरुष ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतं इस ४ अध्याय के २४ श्लोक से कहे हुये ज्ञान के द्वारा मेरे मे चित्त समर्पित होना है सो हे अर्ज्जुन तुम बुद्धियोग से तद्रूप समचित्त होउ।५७॥ और समचित्त होने से जो होगा सो तात्पर्य्य यह कि मद्गत चित्त हो के मेरी कृपा से तावत दुर्ग अर्थात् दुस्तर सांसा-रिक दुख समूह से तरि जावगे और इस के विपरीत आचरण मे दोष कहते हैं कि और जो इस प्रकार कहने पर भी तुम अपने अहङ्कार अर्थात् हम वडे ज्ञानी इस अभिमान से हमारे कहने पर कान न करोगे तो पुरुष को उचित औ हित करनेवाला जो धर्म्म तिस से भ्रष्ट होउगे अर्थात् विनष्ट हो जाउगे औ दुर्गति भी भोगना पडेगा॥५८॥ और जो कहो कि अच्छा हम धर्म्म से भ्रष्ट होय परन्तु तो भी भाई और बन्धुवों के साथ युद्ध न करेङ्गे तिस पर कहते हैं कि मेरी कही सब बातों को अनादर पूर्व्वक अहङ्कार के भरोसे जो कहो कि मै युद्ध न करूङ्गा ऐसी जो तुम मन मे निश्चय करते हो तो तुमारा यह निश्चय करना स्वाधीनता के अभाव हेतु से अर्थात् तुम स्वाधीन नहीं हो इससे यह बात मिथ्या कहे झूठमूठ है सोई कहते हैं कि जो तुमारी प्रकृति कहे क्षत्री को रजोगुण के अधि-काई सो तुम को अवश्य ही युद्ध मे प्रवृत्त करेगी अन्त को आप मारोगे औ

निबद्धः स्वेनकर्मणा। कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

भाषा अनुवाद

लड़ोगे और इस पीटने के पीटने से केवल जगत मे दुर्यश छोड़ और कुछ हाथ लागना नही है यह जानो ॥५९॥ और हे कौन्तेय कुन्तीनन्दन अर्जुन स्वभाव कहे जो पूर्व कर्म का संस्कार जिस से रजोगुण विशिष्ट क्षत्री के जामा को प्राप्त हो और शूरता आदि गुण कर्म से निबद्ध कहे वशीभूत तुम मोह के मारे जो इस क्षण मे युद्ध कर्म करने की इच्छा नहीं करते हो पर इस के बाद अवश होय यही कर्म अवश्य ही करोगे इस मे कुछ भी झूठ न मानो ॥६०॥ इस से पिछिले दोनो श्लोक मे सांख्य आदि मतानुसारी मनुष्यों की प्रकृतिपारतंत्र्य कहे स्वभावाधीनता कही गई अब दो श्लोक से निज कहे अपना मत कहते हैं कि हे अर्जुन सकल भूतों के हृदय मे नियामकरूप से अन्तर्य्यामी ईश्वरस्थिति कहते हैं तो किस प्रकार से टिके हैं इस आकाङ्क्षा पर कहते हैं कि भूतमात्र को माया जो अपनी शक्ति तिस के जोर से भ्रमण कहे उपस्थिति समस्त कर्मों मे प्रवृत्ति करावते भये सब मे टिके हैं जैसे कठपुतली को सूत्रधार बाजीगर लोग लोगों के सामने नचावै है अथवा यन्त्र कहे शरीरारूढ़ कहे जीव को भ्रमण करावते स्थिति करते हैं इस पर श्वेताश्वतर उपनिषद के मन्त्र का प्रमाण देते हैं कि एक स्वयं प्रकाश जो परमात्मा सो भूतों मे निगूढ़भाव से स्थित औ सर्वव्यापी सब का अन्तर्यामी औ कर्मों का नियन्ता औ भूतों का आधाररूप औ द्रष्टा देखनेवाला औ भूतमात्र को चेतनकारी अद्वितीय औ गुणातीत है और अन्तर्य्यामी जो बुद्धि मे स्थिति कर के बुद्धि का नियम करै है और जिस को बुद्धि नहीं जानती और बुद्धि जिस की उपाधि है सोई तुमारे भी आत्मा औ अन्तर्य्यामी तथा कैवल्यस्वरूप है ॥६१॥ जब कि ईश्वर ही सर्वभूत मात्र का प्रेरक है और उसी की प्रेरणा से सकल कर्म प्राणी करते हैं तो फेरि अपना पुरुषार्थ करना वृथा है इस अभिप्राय से कहते हैं कि जिस हेतु से जीवमात्र परमेश्वर के वशीभूत हैं इस से हे भारत अर्जुन तुम अहङ्कार को परित्याग कर के सम्यक प्रकार से उसी ईश्वर की

६२॥ इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।
॥६३॥ सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते
हितम्॥६४॥ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने

भाषा अनुवाद

शरण ग्रहण करो तदनन्तर तिन की कृपा से परा कहे उत्तम शान्ति औ परमेश्वर-सम्बन्धी नित्य जो स्थान सो पावोगे यह भगवान ने अर्ज्जुन से कहा॥६२॥ अब समस्त भगवद्गीता का अर्थ कहे तात्पर्य्य कहते हैं कि इस प्रकार से मैने दया कर के तुम को ज्ञान उपदेश दिया और सो ज्ञान कैसा है इस अपेक्षा से कहते हैं कि गुह्य कहे गोपन करने योग्य तथा मन्त्रयोग आदि से भी जो ज्ञान गुह्यतर अति रहस्य है सोई मैने कहा इस से तुम गीताशास्त्र को पहिले अच्छी तरह आलोचन कर के फेर तुमारी जैसी इच्छा होय तैसा करो भावार्थ यह कि इस गीता के अर्थ को विचार करने से अवश्य ही तुमारा मोह निवृत्त हो जायगा यह भगवान ने कहा ॥६२॥ अति गूढ़ अर्थ से युक्त जो गीताशास्त्र तिस की सम्यक् आलोचना करने को असमर्थ जो अर्ज्जुन तिन से अनुग्रह कर के भगवान आप ही गीता का सार संग्रह रूप अर्थ करि इन श्लोक से ले तीन श्लोक के द्वारा कहते हैं कि उस सब गोपनीय से भी अति गुह्यतम जो हमारे वचन सो यद्यपि प्रसङ्ग प्रसङ्ग पर कहे भी गये है पर तौ भी फेर कहता हूं सो तुम सुनो और बार बार कहने मे हेतु कहते हैं कि तुम हमारे दृढ़ कहे अत्यन्त प्रिय हौ इसी से तुमारी प्रीति औ हित के अर्थ फेर भी कहूंगा अथवा मेरी वाक्य को तुम ने दृढ़ प्रमाण कर के जाना और माना इस से तुम हमै अति प्रिय हौ तो फेरि तुमारे हित के जो वचन हैं सो कहूंगा॥६४॥ अब समस्त हितों से बढ के परम हित क्या है इस शङ्का पर कहने को अङ्गीकार किये हुये गीतार्थ सार को कहते हैं कि मन्मना मत् चित्त होउ और मेरही भक्त कहे आश्रित होउ औ मत्याजी कहे मेरे ही पूजनकारी होउ और हमी को नमस्कार करो इस प्रकार से वर्त्तमान रहने पर मेरी अनुग्रह से प्राप्त तत्त्वज्ञान के द्वारा जो हम को प्राप्त होउगे इस मे कुछ संशय न करो क्यों कि तुम हमारे प्रियपात्र हो सो इस पर तुम को सत्य प्रत्यय कहे प्रतीति जिस से होय इस से हम तुम को प्रतिज्ञा

प्रियोऽसि मे ॥६५॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्ष-
यिष्यामि मा शुचः ॥६६॥ इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं
न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥ य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां
कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥ न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता न च

भाषा अनुवाद

कर के कहते हैं ॥६५॥ पूर्व कही गुह्यतम बात से भी जो गुह्य कहे गोपनीय सो कहते हैं कि हमारी भक्ति ही से सकल सिद्धि होती हैं इस प्रकार दृढ़ विश्वास करि के विधि कहे प्रारब्ध औ वेद शास्त्र के विधान का भरोसा छोड़ि एक हमारी ही शरण लेउ अर्थात् मेरे कहे पर विश्वास करो तो ऐसे हमारो शरणागत रूप मे वर्त्तमान तुमारे कर्म्मयोग से जो फेरि और पाप होंयगे ऐसा शोच न करना क्योंकि एक मेरे शरण मे प्राप्त तुम को मै यावत् पाप से उद्धार औ मुक्त करूङ्गा इस से शोक दूर करो और अपना काम देखो ॥ ६६ ॥ इस प्रकार से श्रीभगवद्गीता का तत्त्व अर्थ उपदेश कर के अब गीता की सम्प्रदाय रूप प्रवर्त्तन करने मे अर्थात् दूसरे को उपदेश देने मे नियम कहते हैं कि हे अर्ज्जुन इस गीता के अर्थ तत्त्व को तुम अतपस्क कहे स्वधर्म अनुष्ठान रहित मनुष्य से न कहना और न कभी अभक्त कहे ईश्वर गुरु तथा ब्राह्मण की भक्ति विहीन को कहना और अशुश्रुषु अर्थात् ब्राह्मण गुरु तथा ईश्वर की शुश्रूषा सेवा जो नहीं करता अथवा गीता श्रवण करने की जिस को अनिच्छा होय ऐसे मनुष्यों को भी कभी न कहियो और जो परमेश्वर स्वरूप हमारे मे मनुष्य बुद्धि पाय कर दोष आरोप करता हुआ निन्दा करै उस को भी तुम कभी न कहना यह तुम से हम प्रत्युपकार चाहते हैं ॥६७॥ पूर्व कहे हुये सब दोषों से वर्जित भक्तजनों को गीतार्थ के उपदेश करनेवाले पुरुष का फल कहते हैं कि जो यह परम गुह्य गीतार्थ का उपदेश मेरे भक्त को करैगा सो मनुष्य मेरी पर कहे उत्तम भक्ति का अधिकारी होयगा और तदनन्तर सो मनुष्य सर्व्व संशय से रहित होय हम को प्राप्त होयगा यह जानो ॥६८॥ तिस से हे अर्ज्जुन उपदेश करने औ सम्प्रदाय चलानेवाले मनुष्यों के मध्य मे मेरा भक्त गीता का उपदेशकारी जो है उस के समान और कोई भी नहीं

मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥ अध्येष्यतेच यइमं धर्म्यं सम्वादमावयोः। ज्ञानयज्ञेन
तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥ श्रद्धावान न हयश्च शृणु यादपि यो नरः।
सोऽपिमुक्तः शुभान् लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१॥ कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैका-
ग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्ट स्ते धनञ्जय॥७२॥ अर्जुन उवाच॥ नष्टो

भाषा अनुवाद

मेरा अत्यन्त परितोष करनेवाला है और न होगा और पृथिवी मे उस से अधिक प्रिय और कोई नहीं है न होगा॥६९॥ अब गीता पाठ करने का फल कहते हैं कि जो मनुष्य हमारा औ तुमारा यह धर्म्मयुक्त संवाद नियम पाठ करैगा सो पुरुष समस्त यज्ञों मे श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ से हमारा पूजन किया यह मेरी निश्चित बुद्धि है भावार्थ यह कि जो अर्थ न जानि के भी जप के समान गीता पढे तो उस के श्रोता हम उस पर प्रसन्न होते हैं ज्ञान अज्ञान किसी तरह से हम को स्मरण करे पर हम उस के निकट अवश्य जायङ्गे जैसे अजामिल औ व्याध आदिकों के निकट हम गये हैं॥७०॥ अब गीता श्रवण करने का फल कहते हैं कि जो कोई श्रद्धा कहे विश्वास युक्त होय केवल गीता पाठ श्रवण करै और अन-सूय कहे यह मनुष्य क्यों जोर से चिलाय के पड़ता है अथवा अशुद्ध निकले तो इसे टोकैं ऐसे दोष न देखै ऐसे मनुष्य तावत सकल पाप से मुक्त होय अश्वमेध यज्ञ आदि कर्म्म करनेवाले जो लोक पावते हैं ये भी उसी लोक को प्राप्त होंयगे और जो अर्थ युक्त अति प्रीति पूर्व्वक श्रवण करैं तो वे जीवन्मुक्त है और अन्त को साक्षात् ब्रह्म स्वरूप होयङ्गे इस मे कुछ सन्देह वा को नहीं है॥७१॥ जो सम्यक् प्रकार बोध तुम को न भया हो तो हम फेर भी तुम को उपदेश करैङ्गे इस आशय से पूछते हैं कि हे पार्थ अर्जुन कहो तो मैने जो कहा सो सब एकाग्र चित्त होय तुमने सुना और हे धनञ्जय सम्मोह कहे तत्त्वज्ञान के विषय मे अज्ञान जनित तुमारी विपरीत बुद्धि नष्ट भई कि नहीं अर्थात् मेरे वचनो से अज्ञान दूर गया कि नहीं यह भगवान ने पूछा॥७२॥ तब तो भगवत की वाणी से परम कृतार्थ होय अर्जुन कहते हैं कि हे अच्युत श्रीकृष्ण आप की कृपा से अब मेरा आत्मज्ञान के विषय मे मोह नष्ट हो गया और स्मृति जो ज्ञान सो पाया औ

मोहःस्मृतिर्लब्धात्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहःकरिष्ये वचनं तव ॥७३॥ सञ्जय उवाच। इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्यच महात्मनः। सम्वादमिममश्रौषमद्भुतं लोमहर्षणम् ॥७४॥ व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम्। योगं होगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥ राजन् संस्मृत्यसंस्मृत्य सम्बादमिममद्भुत। केशवार्ज्जुनयोः पुण्य हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥ तच्च संस्मृत्यसंस्मृत्य रूपमत्यद्भुतहरेः। विस्मयोमेमहान्राजन् हृष्यामि च पुनःपुनः ॥७७॥ यत्र योगेश्वरोः कृष्णो यत्रपार्थोधनु-

भाषा अनुवाद

आत्म स्वरूप के अनुसन्धान मे स्थिति भई अर्थात् आत्म स्वरूप का ज्ञान मेरे को प्रकाश भया और धर्म के विषय मे सन्देह मेरे चित्त से चली गई ऐसा जो मै हूं सो अब आप की आज्ञा प्रतिपालन करूंगा और युद्ध करने के लिये तयार खड़ा हूं जो आज्ञा होय सो अब करूं यह अर्ज्जुन ने भगवान कहा ॥ ७३ ॥ सोई श्रीकृष्ण अर्ज्जुन का संवाद राजा धृतराष्ट्र से सञ्जय कहते हैं कि महात्मा वासुदेव औ अर्जुन का यह अद्भुत संवाद रोंवा खडे करनेवाला मैने जो सुना सो आप को कह सुनाया है ॥७४॥ अब सञ्जय यह वृत्तान्त अपने श्रवण करने का समाचार कहते हैं कि भगवान वासुदेव ने हम को दिव्य चक्षु औ कर्ण दिया है कि उन्को कृपा से परम योगस्वरूप जो परम गुह्य अर्ज्जुन के प्रति साक्षात् योगमाया के ईश्वर श्रीकृष्ण ने आप अपने मुख से कहा सो मैने श्रवण किया और आप के प्रति भी मैने कहा ॥७५॥ सो हे महाराज धृतराष्ट्र यह परम पवित्र केशव औ अर्ज्जुन का अद्भुत संवाद स्मरण कर के मै वारवार हर्षित होता हूं अथवा वारवार मेरे रोम खडे होते हैं ॥७६॥ औ तत् शब्द से भगवान के विश्वरूप का निर्देश करते अर्थात् कहते हैं कि हे महाराज धृतराष्ट्र हरि श्रीकृष्ण के उस अद्भुत विश्वरूप का स्मरण करि करि के हम को अत्यन्त विस्मय होती है अर्थात् आश्चर्य्य होता है और वारवार रोमाञ्च होता है ॥७७॥ इस से हे महाराज अब तुम अपने पुत्त्रों के राज्य लाभ की शङ्का भी परित्याग करो इस आशय पर कहते हैं कि जिस के पक्ष मे योगेश्वर श्रीकृष्ण वर्त्तमान हैं और जहां गाण्डीव धनुर्द्धारी अर्ज्जुन तयार है तहांई श्री कहे राजलक्ष्मी औ विजय तथा भूति कहे उत्तर उत्तर अभिवृद्धि कहे वढ़ती औ नीति जो

धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीति मति र्मम ॥७८॥ इति अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

भाषा अनुवाद

न्याय सो सब निश्चय कर के है ऐसी मेरी मति है इस से अब तुम पुत्रों को साथ ले श्रीकृष्ण की शरण जाय के औ पाण्डवों को अपना सर्वस्व दे प्रसन्न करावते हुये अपने पुत्रों की प्राण रक्षामात्र करो यह सञ्जय ने धृतराष्ट्र को कहा समझाय के ॥७८॥
इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनीटीकायां अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अति पावनी है अनपावन की नित आवनि गावन मे मन दीजै
तजि दावन पाप परावन जो त्रैतापन शावन हूं जिय लीजै
भवरोग दुरावनि ज्ञान वढ़ावनि मुक्ति उपावनि प्रतिदिन पीजै
कामिनके मन भामिनि ज्यों मनभावनि त्यों मनभावनि कीजै

ज्ञानरत्नाकर यन्त्रे यन्त्रिता समाप्ताचेयं श्रीमद्भगवद्गीता
॥ सम्वत् १९३४ भाद्र कृष्ण ३ ॥

अथ अङ्गन्यास करन्यासौ

ओं श्रीगणेशाय नमः। ओं अस्यश्रीभगवद्गीतामालामन्त्रस्य। श्रीभगवान्वेदव्यास ऋषिरनुष्टुपछन्दः श्रीकृष्णःपरमात्मादेवता। अशोच्यानन्वशोचस्त्वंप्रज्ञावादांश्चभाष स इतिबीजम्। सर्वधर्मान्परित्यज्यमामेकंशरणंव्रजेतिशक्तिः। अहंत्वासर्वपापेभ्योमोक्ष्य यिष्यामिमाशुचइतिकीलकम्। नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणिनैनंदहतिपावक। इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः। नचैनंक्लेदयन्त्यापोनशोषयतिमारुत। इति तर्जनीभ्यांनमः। अच्छेद्योयमदाह्योय मक्लेद्योऽशोष्यएवचेतिमध्यमाभ्यांनमः। नित्यःसर्वगतःस्थाणुरचलोयंसनातन इत्यनामिका भ्यांनमः। पश्यमेपार्थरूपाणिशतशोथसहस्रश। इति कनिष्ठाभ्यांनमः। नाना विधानि दिव्यानिनानावर्णाकृतीनिचेति। करतलकरपृष्ठाभ्यांनमः। इति करन्यास॥ नैनंछिन्द-न्तिशस्त्राणीतिहृदयायनमः। नचैनंक्लेदयन्त्यापइतिशिरसेस्वाहा। अच्छेद्योयमदाह्यो यमितिशिखायैवषट्। नित्यःसर्वगतःस्थाणुरितिकवचायहुम्। पश्यमेपार्थरूपाणीतिनेत्र त्रयायवौषट्। नानाविधानिदिव्यानीत्यस्त्रायफट्। श्रीकृष्णप्रीत्यर्थेजपेविनियोगः। इति

षडङ्गन्यासः। अथ ध्यानम्। ओं पार्थायप्रतिबोधितांभगवतानारायणेनस्वयम्। व्यासेन ग्रथितांपुराणमुनिनामध्येमहाभारते। अद्वैतामृतवर्षिणीम्: भगवतीमष्टादशाध्यायिनी मंबत्वामनुसन्दधामिभगवद्गीतेभवद्वेषिणीम्॥१॥ नमोऽस्तुतेव्यासविशालबुद्धेफुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र:येनत्वयाभारततैलपूर्णः प्रज्वालितोज्ञानमयप्रदीपः॥२॥ प्रपन्नपारिजातायतोत्रवेत्रैकपाणये। ज्ञानमुद्रायकृष्णायगीतामृतदुहेनमः॥३॥ सर्वोपनिषदोगावोदोग्धागोपालनन्दनः। पार्थोवत्सःसुधीर्भोक्तादुग्धंगीतामृतंमहत्॥४॥ वसुदेवसुतंदेवंकंसचाणूरमर्दनम्। देवकीपरमानन्दंकृष्णंवन्देजगद्गुरुम्॥५॥ भीष्मद्रोणतटाजयद्रथजलागान्धारनीलोत्पला। शल्यग्राहवतीकृपेणवहिनीकर्णेनवेलाकुला। अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्य्योधनावर्त्तिनी। सोत्तीर्णाखलुपाण्डवःकुरुनदीकैवर्त्तकःकेशवः॥६॥ पाराशर्य्यवचः सरोजममलंगीतार्थगन्धोत्कटं। नानाख्यानककेशरंहरिकथासम्बोधनाबोधितं। लोके सज्जनषट्पदैरहरहःपेपीयमानंमुदा। भूताद्भारतपङ्कजंकलिमलप्रध्वंसिनःश्रेयसे॥७॥ मूकंकरोतिवाचालंपङ्गुंलङ्घयतेगिरिं। यत्कृपातमहंवन्देपरमानन्दमाधवं॥८॥ यंब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतःस्तुन्वन्तिदिव्यैस्तवैर्वेदैः।साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्तियंसामगाः। ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसापश्यन्तियोगिनो यस्यान्तन्नविदुःसुरासुरगणादेवायतस्मै नमः॥९॥

श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यम्।

श्रीगणेशायनमः। ऋषिरुवाच। गीतायाश्चैवमाहात्म्यंयथावत्सूतमेवद। पुराणमुनिना प्रोक्तंव्यासेनमुनिनोदितम्॥१॥ सूतउवाच। पृष्टंभवद्भिर्ऋषिभिर्यद्गोप्यंपुरातनम्। शक्यतेकेननैवंवक्तुंगीतामाहात्म्यमुत्तमम्॥२॥ श्रीकृष्णोजानातिवैसम्यक्किञ्चित्कुन्तीसुतः फलम्। व्यासोवाव्यासपुत्रोवायाज्ञवल्क्योथमैथिलः॥३॥ अन्येश्रवणतःश्रुत्वालेशंसंकीर्त्तयन्तिच। तस्मात्किञ्चिद्वदाम्यत्रव्यासस्यास्यान्मयाश्रुतम्॥४॥ सर्वोपनिषदोगावोदोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थोवत्ससुधीर्भोक्तादुग्धंगीतामृतंमहत॥५॥ सारथ्यमर्जुनस्यादौकुर्वन् गीतामृतंददौ। लोकत्रयोपकारायतस्मैकृष्णात्मनेनमः॥६॥ संसारसागरंघोरंतर्त्तुमिच्छतियोनरः। गीतानावंसमासाद्यपारंयातिसुखेनमः॥७॥ गीताज्ञानंश्रुतंनैवसदैवाभ्यासयोगतः। मोक्षमिच्छतिमूढात्मायातिबालकहास्यताम्॥८॥ येशृण्वन्तिपठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम्। नतेवैमानुषाज्ञेयादेवरूपानसंशयः॥९॥ गीताज्ञानेनसम्बोधं कृष्णःप्राहार्जुनायवै। मोक्षस्थानंपरंपार्थःसगुणंवाथनिर्गुणम्॥१०॥ सोपानाष्टादशैरेवं

परंब्रह्माधिगच्छति । मलनिर्मोचनंपुंसांजलस्नानंदिनेदिने ॥११॥ सकृद्गीताम्भसिस्नानं
संसारमलनाशनम् । परास्थानश्रुतंज्ञानंतस्मिन्कृद्धानभावना ॥१२॥ गीतायाश्चनजा-
नातिपठनंनैवपाठनम् । सएवमानुषेलोकेमनुजोवीड्राहकः ॥१३॥ तस्माद्गीतांनजा-
नातिनाधमस्तत्परोजनः । धिक्तस्यमानुषंदेहंधिक्ज्ञानंकुलशीलताम् ॥१४॥ गीतार्थं
नविजानातिनाधमस्तत्परोजनः । धिक्शरीरंशुभंशीलंविभवंसद्गृहाश्रमम् ॥१५॥
गीताशास्त्रंनजानातिनाधमस्तत्परोजनः । धिक्प्रागल्भ्यंप्रतिष्ठांचपूजामानंमहत्तमम् ॥
१६ ॥ गीताशास्त्रेरतिर्नास्तिसर्वंतन्निष्फलंजगुः । धिक्तस्यज्ञानमाचारंव्रतंनिष्ठातपो
यशः ॥१७॥ गीतार्थपठनंनास्तिनाधमस्तत्परोजनः । गीतागीतंनयज्ज्ञानंतद्विद्ध्यासुर-
सम्मतम् ॥१८॥ तन्मोघंधर्मरहितंवेदवेदान्तगर्हितम् । तस्माद्धर्ममयीगीतासर्वज्ञान-
प्रयोजिका ॥१९॥ सर्वशास्त्रमयीयस्मात्तस्माद्गीताविशिष्यते । योधीतेनित्यगीताञ्चदिवा
रात्रौयथार्थतः ॥२०॥ स्वपन्जाग्रन्चलंतिष्ठन्शाश्वतंमोक्षमाप्नुयात् । शालग्रामशिलायां
तुदेवागारेशिवालये ॥२१॥ तीर्थेनद्यांपठेद्यस्तुवैकुण्ठंयातिनिश्चितम् । देवकीनन्दनःकृष्णो
गीतापाठेनतुष्यति ॥२२॥ यथानवेदैर्दानेनयज्ञतीर्थव्रतादिभिः । गीताधीताचयेनापि
भक्तिभावेनचेतसा ॥२३॥ तेनवेदाश्चशास्त्राणिपुराणानिचसर्वशः । योगिस्थानेसिद्धपीठे
शिलाग्रेसत्सभासुच ॥२४॥ यज्ञेचविष्णुभक्ताग्रेपठन्यातिपरांगतिम् । गीतापाठञ्चश्रवणं
यःकरोतिदिनेदिने ॥२५॥ क्रतवोवाजिमेधाद्याःकृतास्तेनसदक्षिणाः । यःशृणोतिचगी-
तार्थंकीर्त्तयत्येवयःपुमान् ॥२६॥ श्रावयेच्चपरार्थंवैसप्रयातिपरंपदम् । गीतायाःपुस्तकं
नित्यंयोर्चयत्येवसादरात् ॥२७॥ विधिनाभक्तिभावेनतस्यपुण्यफलंशृणु । सकलाभूःकृता
तेनयज्ञस्तंभवतीकिल ॥२८॥ कृतानिसर्वतीर्थानिदानानिचबहून्यपि । भूतप्रेतपिशा-
चाद्यास्तत्रनप्रविशन्तिवै ॥२९॥ अतिचारोद्भवंदुःखंपरेणपिकृतञ्चयत् । गोपसर्पतितत्रैव
यत्रगीतार्चनंगृहे ॥३०॥ तापत्रयोद्भवापीडानैवव्याधिभयंक्वचित् । नशापोनैवपापञ्च
दुर्गतिर्नारकीनच ॥३१॥ देहोर्मयःपडेतेवैनबाधन्तेकदाचन । भगवत्परमशानेभक्तिर-
व्यभिचारिणी ॥३२॥ जायतेसततंतत्रयत्रगीताभिवन्दनम् । प्रारब्धंभुञ्जमानोपिगीताभ्या-
सरतः सदा ॥३३॥ समुक्तःससुखीलोकेकर्मणानोपलिप्यते । महापापादिपापानिगीता-
ध्यायीकरोतिचेत् ॥३४॥ नकिञ्चित्स्पृशतेतस्यनलिनीदलमम्भसा । अनाचारोद्भवंपाप-
मवाच्यादिकृतञ्चयत् ॥३५॥ अभक्ष्यभक्षजंदोषमस्पृश्यस्पर्शजंतथा । ज्ञानाज्ञानकृतंनित्य-
मिन्द्रियैर्जनितंचत ॥३६॥ तत्सर्वंनाशमायातिगीतापाठेनतत्क्षणात् । सर्वत्रप्रतिभुक्त्वाच

प्रतिगृह्यचसर्वशः ॥३७॥ गीतापाठंप्रकुर्वाणोनलिप्येत्कदाचन। रत्नपूर्णांमहींसर्वां
प्रतिगृह्यविधानतः ॥३८॥ गीतापाठेनचैकेनशुद्धःस्फटिकवत्सदा। यस्यान्तःकरणंनित्यं
गीतायांरमतेसदा ॥३९॥ सर्वाग्निकःसदाजापीक्रियावान्सचपण्डितः। दर्शनीयःसधनवान्
सयोगीज्ञानवानपि ॥४०॥ सएवयाज्ञिकोयाजीसर्ववेदार्थदर्शकः। गीतायाःपुस्तकंयत्र
नित्यपाठश्चवर्त्तते ॥४१॥ तत्रसर्वाणितीर्थानिप्रयागादीनिभूतले। निवसन्तिसदादेहेदेह
शेषेपिसर्वदा ॥४२॥ सर्वेदेवाश्चऋषयोयोगिनःपन्नगाश्चये। गोपालबालकृष्णोपिनारदो
ध्रुवपार्षदैः ॥४३॥ सहायोजायतेशीघ्रंयत्रगीताप्रवर्तते। यत्रगीताविचारश्चपठनंपाठनं
तथा ॥४४॥ तत्राहंनिश्चितंपार्थनिवसामिसदैवहि। गीतामेहृदयंपार्थगीतामेसारमुत्त
मम् ॥४५॥ गीतामेज्ञानमत्युग्रंगीतामेज्ञानमव्ययम्। गीतामेचोत्तमंस्थानंगीतामेपरमं
पदम् ॥४६॥ गीतामेपरमंगुह्यंगीतामेपरमोगुरुः। गीताश्रयेहंतिष्ठामिगीतामेपरमं
गृहम् ॥४७॥ गीताज्ञानंसमाश्रित्यत्रिलोकींपालयाम्यहम्। गीतामेपरमाविद्याब्रह्म-
रूपानसंशयः ॥४८॥ अर्द्धमात्राक्षरानित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका। गीतानामानिवक्ष्यामि
गुह्यानिशृणुपाण्डव ॥४९॥ कीर्त्तनात्सर्वपापानिविलयंयान्तितत्क्षणात्। गीतागङ्गाच
गायत्रीगीतासत्यापतिव्रता ॥५०॥ ब्रह्मावलीब्रह्मविद्यात्रिसन्ध्यामुक्तिगेहनी। अर्द्धमात्रा
चिदानन्दाभवघ्नीभ्रान्तिनाशिनी ॥५१॥ वेदत्रयीपरानन्तातत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी। इत्येता-
निजपेन्नित्यंनरानिश्चलमानसः ॥५२॥ ज्ञानसिद्धिंलभेच्छीघ्रंतथान्तेपरमंपदम्। पाठे
ऽसमर्थसंपूर्णेतदर्द्धंपाठमाचरेत् ॥५३॥ तदागोदानजंपुण्यंलभतेनात्रसंशयः। त्रिभागंपठ
मानस्तुसोमयागफलंलभेत् ॥५४॥ षडंशंजपमानस्तुगङ्गास्नानंफलंलभेत्। तथाऽध्यायद्वयं
नित्यंपाठमानोनिरन्तरम् ॥५५॥ इन्द्रलोकमवाप्नोतिकल्पमेकंवसेद्ध्रुवम्। एकमध्यायकं
नित्यंपठतेभक्तिसंयुतः ॥५६॥ रुद्रलोकमवाप्नोतिगणोभूत्वावसेच्चिरम्। अध्यायार्द्धञ्च
पादञ्चानित्यंयःपठतेजनः ॥५७॥ समेतिरविलोकंचमन्वन्तरसमाशतम्। गीतायाःश्लोक
दशकंसप्तपञ्चचतुष्टयम् ॥५८॥ त्रिद्व्येकमेकमर्द्धंवाश्लोकानांयःपठेन्नरः। चन्द्रलोकमवा
प्नोतिवर्षाणामयुतन्तथा ॥५९॥ गीतार्थमेकपादञ्चश्लोकमध्यायमेवच। स्मरंस्त्यक्त्वाजनो
देहंप्रयातिपरमंपदम् ॥६०॥ गीतार्थंवापिपाठंवाशृणुयादन्तकालतः। महापातकयुक्तोपि
मुक्तिभागोभवेज्जनः ॥६१॥ गीतापुस्तकसंयुक्तःप्राणांस्त्यक्त्वाप्रयातियः। वैकुण्ठंसमवाप्नोति
विष्णुनासहमोदते ॥६२॥ गीताध्यायसमायुक्तोमृतोमानुषतांव्रजेत्। गीताभ्यासंपुनः
कृत्वालभतेमुक्तिमुत्तमाम् ॥६३॥ गीतेत्युच्चारसंयुक्तोम्रियमाणोगतिंलभेत्। यद्यत्कर्मच

सर्व्वत्रगीतापाठप्रकीर्त्तितम् ॥६४॥ तत्तत्कर्म्मचनिर्द्दोषंभूत्वापूर्णत्वमाप्नुयात् । पितॄनु-
द्दिश्ययःश्राद्धेगीतापाठंकरोतिवै ॥६५॥ सन्तुष्टाःपितरस्तस्यनिरयाद्यान्तिस्वर्गतिम् ।
गीतापाठेनसन्तुष्टाःपितरःश्राद्धतर्पिताः ॥६६॥ पितृलोकंप्रयान्त्येवपुत्राशीर्व्वादतत्पराः ।
गीतापुस्तकदानंचधेनुपुच्छसमन्वितम् ॥६७॥ कृत्वाचतद्दिनेसम्यक्कृतार्थोजायतेजनः ।
पुस्तकंहेमसंयुक्तंगीतायाःशुद्धमानसः ॥६८॥ दत्वाविप्रायविदुषेजायतेनपुनर्भवः । शत-
पुस्तकदानञ्चगीतायाःप्रकरोतियः ॥६९॥ सयातिब्रह्मसदनंपुनरावृत्तिदुर्लभम् । गीता
दानप्रभावेनसप्तकल्पावधिंसमाः ॥७०॥ विष्णुलोकमवाप्नोतिविष्णुनासहमोदते । सम्यक्
श्रुत्वाचगीतार्थंपुस्तकंयःप्रदापयेत् ॥७१॥ तस्मैप्रीतोहिभगवान्ददातिमनसेप्सितम् ।
देहंमानुषमाश्रित्यचातुर्व्वर्ण्येषुभारत ॥७२॥ नशृणोतिनपठतिगीतामसृतरूपिणीम् ।
हस्तात्त्यक्त्वामृतंप्राप्तंकष्टात्क्ष्वेडंसमश्नुते ॥ ७३ ॥ पीत्वागीतामृतंलोकेलब्ध्वामोक्षंसुखी
भवेत् । जनैःसंसारदुःखार्त्तैर्गीताज्ञानंचयैःश्रुतम् ॥ ७४ ॥ संप्राप्तममृतंतैश्चगतास्तेसदनं
हरेः । गीतामाश्रित्यबहवोभूभुजोजनकादयः ॥७५॥ निर्धूतकल्मषालोकेगतास्तेपरमं
पदम् । गीतासुनविशेषोऽस्तिजनेषूच्चावचेषुच ॥७६॥ ज्ञानेष्वेवसमग्रेषुसमाब्रह्मस्वरू-
पिणी । योऽभिमन्यतिगीतार्थ्येयोनिन्दांवाकरोतिच ॥७७॥ समेतिनरकंघोरंयावदाभूत-
संप्लवम् । अहङ्कारेणमूढात्मागीतार्थंनैवमन्यते ॥७८॥ कुम्भीपाकेषुपच्येतयावत्कल्पक्षयो
भवेत् । गीतार्थंवाच्यमानंयोनशृणोतिसमीपतः ॥७९॥ सशूकरभवांयोनिमनेकामसो-
धिगच्छति । चौर्य्यंकृत्वाचगीतायाःपुस्तकंयःसमानयेत् ॥८०॥ नतस्यसफलंकिञ्चित्पठ-
नाच्चवृथाभवेत् । यःश्रुत्वानैवगीतार्थंमोदतेपरमार्थतः ॥८१॥ नैवाप्नोतिफलंलोकेप्रमा-
दाच्चवृथाश्रमः । गीतांश्रुत्वाहिरण्यञ्चपट्टाम्बरप्रवेष्टनम् ॥८२॥ निवेदयेत्तद्वक्त्रेप्रीतये
परमात्मनः । वाचकंपूजयेद्भक्त्याद्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ॥८३॥ अनेकैर्बहुधाप्रीत्यातुष्यतां
भगवान्हरिः । माहात्म्यमेतद्गीतायाःकृष्णप्रोक्तंपुरातनम् ॥८४॥ गीतान्तेपठतेयस्तुय-
थोक्तफलभाग्भवेत् । गीतायाःपठनंकृत्वामाहात्म्यंनैवयःपठेत् ॥८५॥ वृथापाठफलंतस्य
श्रमएवउदाहृतः । एतन्माहात्म्यसंयुक्तंगीतापाठंकरोतियः ॥८६॥ श्रद्धयायःशृणोत्येव
दुर्लभांगतिमाप्नुयात् । श्रुत्वापठित्वागीतांचमाहात्म्यंयःशृणोतिच ॥८७॥ तस्यपुण्यफलं
लोकेभवेद्दैमनसेप्सितम् । एवंज्ञात्वाप्रकुर्व्वीतगीतापाठमनुत्तमम् ॥८८॥

इति श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यं श्रीकृष्णेनाऽर्जुनायोक्तं समाप्तम् ॥

श्रीयुतबाबू भुवनचन्द्र वसाकके द्वारा कलकत्ता संवादज्ञानरत्नाकर यन्त्रमें मुद्रित औ प्रकाशित भया निमतलाघाट ष्ट्रीट ८ नं ।

